प्रेमोपहार !

भाई प्रभाकर,

तुम-सा साहसी वीरके करकमलोंमें यह 'प्रेम' भेंट करते मुझे संकोच है; पर भाई, उसमें भी वीर-भाव हैं। इसलिये, लो इसे स्वीकार करो ! —लेखक।

वीर-सूची।

१—धर्म और वीरता १

२—भ० ऋषभदेव और सम्राट् भरत ६

३—श्रीराम और लक्ष्मण.... .... १८

४—श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि २५

५—अहिंसा और सैनिक.... .... ३

६—भगवान पार्श्वनाथ .... [illegible]

७— ,, महावीर ४

८—मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त ....

९—सम्राट् ऐल खारवेल.... ....

१०—धर्म और पन्थ ६

११—वीर संघकी विदूषियां ७

१२—भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ८

१३—आचार्यप्रवर उमास्वाति ८७

१४—स्वामी समंतभद्राचार्य.... .... ९०

१५—श्री नेमिचंद्राचार्य और वीर मार्तंड चामुण्डराय १००

१६—श्री भट्टाकलंकदेव १११

१७—धैर्य ११९

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

(१)

धर्म और वीरता।

धर्म वह चीज़ है जो मनुष्यको उन्नत बनाती है। उसे साधारण दशामे उठाकर ऊंचा बना देती है। यह धर्म ही है जो मनुष्यकी मान-मर्यादाको बढाता है, उसे सुख और शांति प्रदान करता है। इसी लिये कहते हैं कि धर्मका पालन किये विना न धनवान सुखी हो सक्ता है, न गरीब फलफूल सक्ता है और न विद्वान यश पासकता है।

किंतु धर्म पालन कैसे किया जाय? कौनसे उपाय हैं जो मनुष्यको धर्मात्मा बना सकते हैं? इन प्रश्नोंका उत्तर पानेके लिये देख या जानलेना जरूरी है कि संसारमें ऐसा कोई काम नहीं जो मनुष्यकी इच्छामात्रसे होजाता हो। जिस कामको करनेकी मनुष्य दिलमें ठान लेता है, उस ओर वह मन, वचन, कायको लगाकर उसको पूरा करनेकी धुनमें लग जाता है। इस क्रियाको उद्योग अथवा पुरुषार्थ कहते हैं। अपने बाहुबल, अपने पराक्रमको जबतक मनुष्य प्रगट नहीं करता, तबतक वह कोई भी काम नहीं कर सक्ता। अपने जीवनमें वह किसी प्रकारकी सफलता नहीं पा

सक्ता। पुरुषार्थी अथवा वीर बनकर उद्योग करनेपर ही मनुष्यको सफलता नसीब होसक्ती है। बस, धर्मका पालनकरनेके लिये भी सबसे पहले पुरुषार्थी अथवा वीर बननेकी जरूरत है। बिना साहसके मनुष्य अपनी साधारण दशाको उन्नत नहीं बना सक्ता। उसे धर्ममार्गमें पग बढ़ानेके लिये वीरताको अपना लेना जरूरी है। क्योंकि वीरताके विना धर्मका पालन नहीं किया जासकता और धर्म विना वीरता भी टिक नहीं सक्ती।

अच्छा, तो यह जान लिया कि धर्म पालनेके लिये मनुष्यको वीर बनना चाहिये; किंतु वीर बनकर वह करे क्या? क्या वह बंदूक उठाकर जीवजंतुओंको मारता फिरे? नहीं, निरपराध प्राणियोंको मारडालनेसे कोई वीर नहीं होता। उसे हत्यारा जरूर कह सक्ते हैं। वीर तो केवल अभय नर-श्रेष्ठ होता है। उसे धर्म पालनेके लिये अपने समान सबको अभय बनानेका उद्योग करना पड़ता है। इसी लिये प्रत्येक मनुष्यका सबसे पहला धर्म यह होता है कि वह अपनेको मन, वचन, कायसे अभय और साहसी बनानेका उद्योग करे; क्योंकि जब वह स्वयं निडर वीर होगा तो उसके लिये दूसरोंको अभय बनाना कठिन नहीं है। और जहां किसी प्रकारका डर नहीं है, वहीं सुख है। इस तरह दूसरोंको सुख पहुंचाना मनुष्यके लिये प्रारम्भिक धर्म है। "आप जीयो और दूसरोंको जीने दो" इस सिद्धांतका ही पालन करना वीरके लिये काफी है; बल्कि वह दूसरोंको सुखी जीवन बितानेके लिये उद्योग करना अपना धर्म मानता है।

किंतु दूसरोंके सुखके पीछे अपने और अपने कुटुंवियोंके सुख दुःखको क्या मनुष्यको भुला देना चाहिये ? धर्म कहता है 'नहीं'। और इस सिद्धांतको निर्भ्रान्त रूपमें पालन करनेके लिये, वह एक व्यवस्थित कार्यक्रम निश्चित कर देता है ! इस कार्यक्रमके अनुसार सबसे पहले मनुष्यको अपने प्रति धर्मका पालन करना चाहिये। उसे वह काम करना चाहिये जो उसे अभय वीर बनादे; जिससे कि वह अन्य प्राणियोंकी सेवा कर सके। मनुष्यके इस धर्म कर्मका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। अभय बननेके लिये मनुष्यको सब प्रकारकी शंकाओंको छोड़ना होता है और व्यक्तिगत हानि-लाभ एवं मोह–ममतासे यथासंभव नाता तोड़ना होता है। इस प्रकारका जीवन विताते हुए मनुष्य स्वयं आत्मानुभवकी ओर बढ़ता जाता है और वह उच्च दशाको पहुंच जाता है जिसमें अपना और पराया भला करना ही एक मात्र कार्य रह जाता है।

बस, इस स्व-धर्मके बाद मनुष्यके लिये अपने निकटके अन्य संबंधियों और कुटुम्बियोंका हित साधन करना मुख्य धर्म होता है। अपनी संतान और भाई बहिनोंको शिक्षित बनाकर उन्हें सुखी जीवन वितानेके योग्य बना देना मनुष्यका दूसरा धर्म है। इसे "कुल-धर्म" कहना ठीक है।

अपने कुटुम्बके बाद मनुष्यके सुख-दुःखमें साथी, उसके जाति अथवा साधर्मी भाई हैं। धर्मपरायण मनुष्य उनकी सेवा करना, उनको धर्म-संपन्न, सुखी और अभय जीवन वितानेके योग्य बना देना अपना परम कर्तव्य समझता है। इसके लिये उसे अपने

स्वार्थकी आहुति देनी होती है। यह उसके लिये 'जाति-धर्म' है।

जाति-बिरादरीके लोगोंके बाद, मनुष्यका निकट सम्बन्ध ग्राम अथवा नगरके अधिवासियोंसे है। इस लिये ग्राम अथवा नगरकी उन्नतिके लिये प्रयत्नशील होना धर्मात्मा व्यक्तिके लिये उपादेय है। भारतमें आजकल ग्रामों और नगरोंकी जो दुर्दशा है, वह किसीसे छिपी नहीं है। इसका मुख्य कारण यही है कि ग्राम-वासी अपने ग्राम-धर्मको और नगरवासी अपने नगरधर्मको भूल गये हैं। आजकल लोग ग्राम्य-पंचायतों अथवा नगर संस्थाओं (चुंगी आदि) में मात्र अपनी इज्जत और नामवरीके लिये जाते हैं। अपने धर्मको लक्ष्य करके शायद ही कोई इन संस्थाओंमें पहुंचा होगा और सच पूछिये तो अपने धर्मको पालन करनेके लिये वीर धर्मको किसी संस्था या व्यक्तिकी आड लेनेकी जरूरत नहीं है। वह अपने साहस और उत्साहसे अपने ग्राम अथवा नगरकी उन्नति करनेमें व्यस्त हो जाता है। उसके सदुद्योगसे ग्रामवासी अथवा नागरिक अभय होकर सुखी जीवन विताते हैं।

बस, जब ग्राम और नगर उन्नत हो गये तो उस देशकी उन्न-तिमें बाकी ही क्या रहा ? किंतु इसपर भी देश-रक्षा, शासन-व्यवस्था आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो अलग ही एक साहसी और धर्मपरायण हाथकी अपेक्षा रखती हैं। शत्रुओं और आतताइयोंसे देशके सुर-क्षित रहनेपर ही वहां धर्म पालन किया जासकता है। इस लिये मनुष्यका प्रधान धर्म देश सेवा है। और इस धर्मका पालन वही मनुष्य ठीक २ कर सकते हैं जो वीर और साहसी हों। इस प्रकार

वीर मनुष्य ही यथार्थमें धर्म पालनके अधिकारी हैं। धर्म और वीरताका घनिष्ट सम्बन्ध है। भारतमें अज्ञात कालसे ऐसे अनेक वीर हुये हैं जो अपने धर्मपालनके लिये प्रसिद्ध ही नहीं, बल्कि आज घर २ उनकी पूजा होरही है। इन महापुरुषोंने गृहस्थ जीवनमें उपरोक्त प्रकार धर्म पालन करके योग-धर्मका अभ्यास किया था और लोकस्वातंत्र्यके बाद आत्म-स्वातंत्र्य प्राप्त किया था। ग्राम और नगर निवासी लोगोंको भी इस धर्मको पालन करनेकी योग्यता पानेके लिये शुरूसे ही अहिंसा, सत्य, शील, अचौर्य और संतोष आदि नियमोंका अभ्यास करते रहना चाहिये। ये सिद्धांत ही उसे नियमित जीवन बितानेका अभ्यासी बनाकर साहसी-वीर बना देंगे। अतएव वीर बननेके लिये उपरोक्त क्रमसे शक्तिके अनुसार धर्म पालन करना प्रत्येक समझदार व्यक्तिका कर्तव्य है।

भगवान् ऋषभदेव और सम्राट् भरत ।

उस जमानेकी वात है जब सभ्यता अपने शैशव कालमें थी। वह कर्मयुगका प्रारंभिक समय था। तब सभ्यताके आदि श्रष्टा भगवान ऋषभदेव इस धरातलको सुशोभित कर रहे थे। वह अंतिम मनु नाभिराय और महारानी मरुदेवीके सुपुत्र थे।

मनु नाभिरायके पहले भरतक्षेत्रमें भोग-भूमिकी रचना थी। उस पुण्य कालमें दम्पत्ति युगल रूपमें जन्म लेकर भोग भोगते थे, इन्हें आधि, व्याधिका दुःख नहीं था। पुण्य-प्रतापसे उन्हें सुखी जीवन वितानेके लिये सब ही सामग्री कल्पवृक्षोंसे अपने आप मिलजाती थीं। किन्तु अंतिम मनु नाभिरायके समय भोग भूमिका अन्त होगया और कर्मयुगका जमाना आया। लोग परिश्रम करके जीवन व्यतीत करनेके लिये वाध्य हुए। किन्तु वह यह नहीं जानते थे कि किस तरह क्या करें, जिससे जीवन संबंधी आवश्यकताओंको पूरा पाड सकें। हैरान और परेशान वह मनु नाभिरायके पास भागे गये। उन्होंने उनको ढाढस बंधाया और वताया कि “इस समय हम सब लोगोंमें कुमार ऋषभदेव विशेष प्रतिभाशाली और ज्ञानवान पुरुष हैं। हम सबको उन्हींका नेतृत्व स्वीकार करके जीवन-व्यवस्थाका मार्ग पूरा कर लेना चाहिये।” प्रजाजनने मनु नाभिरायकी यह संमति एक स्वरसे स्वीकार करली।

इन्द्रके द्वारा वसाई गई अयोध्या नगरीमें कुमार ऋषभदेवका

भव्य भवन था। किंकर्तव्यविमूढ जनसमुदायने उसे जाकर घेर लिया। दयालु ऋषभदेव अपने भाइयोंको आया देखकर चट उनकी सेवामें आ उपस्थित हुए और उनके वक्तव्यको सुनकर उन्हें अपने कर्तव्यकी सुध आई। वह उनके पथ प्रदर्शक बन गये! कुमार ऋषभदेवने अपने विशिष्ट ज्ञानसे लोगोंको खाना, पीना, रहना सहना, पढ़ना, लिखना आदि जीवनोपयोगी बातें सिखाईं। उन्हें सभ्य जीवन बितानेके लिये असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प-कला विद्याओंमें निपुण बनाया। ऋषभदेवने कुल, ग्राम, नगर, पट्टन, प्रांत आदिकी स्थापना कराके लोगोंको नागरिक जीवनमें प्रतिष्ठित किया। [स्वयंवरकी सनातन प्रथाके अनुसार विवाह करनेकी प्रथाका श्री गणेश किया।] तथापि संतानको सुशिक्षित बनानेका पाठ भी उन्होंने स्वयं नमूना बनकर लोगोंको सिखा दिया।

देशमें सुख-शांति और व्यवस्थाको सिरजनेके लिये ऋषभ-देवने लोगोंकी योग्यताके अनुसार उन्हें तीन वर्णोंमें विभक्त कर दिया। जिन लोगोंको उन्होंने शासन करनेमें दक्ष पाया, उन्हें शासक नियुक्त कर दिया और वे 'क्षत्रिय' अर्थात् 'अन्योंके रक्षक' नामसे प्रसिद्ध होगये। राष्ट्रके भले-बुरे और रक्षा-दीक्षाका सारा भार उन्हीं लोगोंपर था। इसीलिये जनतामें उनकी प्रतिष्ठा अधिक थी। व्यवस्थित देशको समृद्धिशाली बनानेके लिये नीति निपुण और साहसी व्यापारियोंका होना आवश्यक है। इसलिये क्षत्रिय-वर्गके बाद देशोन्नतिके लिये ऋषभदेवने वणिक-वर्गकी स्थापना की। इस वर्गमें वह लोग रक्खे गये जो अर्थशास्त्र और व्यापारमें कौशल

पालेनेके योग्य थे। यह 'वैश्य' वर्णके नामसे प्रसिद्ध हुये। देशको अर्थ-संकटसे बचाये रखकर उसे खूब समृद्धिशाली बनाना इन लोगोंका कार्य था। इसप्रकार शक्ति और सम्पदाका ठीक-ठीक सिरजन ऋषभदेवने इस पवित्र भूमिपर कर दिया। अब जरूरत सिर्फ यह रह गई कि शक्ति और सम्पदाको सार्थक बनानेके लिये देशमें सेवा कर्मका बीज बो दिया जाय। बस, ऋषभदेवजीने जिन लोगोंको शक्ति और सम्पदाकी उपासना करने योग्य नहीं पाया, उन्हें सेवा-देवीके मंदिरमें ला नियुक्त किया। इन लोगोंका कर्म सेवा करना था, इसलिये यह लोग 'शूद्र' नामसे प्रसिद्ध हुये।

इस प्रकारकी व्यवस्थासे जनतामें सुख, शांति और संतोषकी मात्रा बढ़ी और वह ऋषभदेवकी भूरि भूरि प्रशंसा करने लगी। क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तीनों ही अपने अपने नियत कर्म करते हुये बड़े प्रसन्न हुये। यह त्रि-वर्ण रूपी कवच उस समयकी जनताको प्यारा था। उसके लिये वह बन्धन नहीं था, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी२ उन्नति करनेमें पूर्ण स्वाधीन था। और समाजमें कोई भी व्यक्ति अपने वर्णगत कर्मके कारण हेय नहीं गिना जाता था। बल्कि अपना वर्ण बदल लेनेकी स्वतंत्रता भी हरएकको प्राप्त थी। वास्तवमें यही सुसंगत भी है। भला जब एक व्यक्ति क्षत्रियत्वगुणकी क्षमता रखता हो, तो वह क्यों न क्षत्रिय वर्णके कर्मको करनेका अधिकारी माना जाय? बस, प्रत्येक व्यक्ति शासक-मंडलको अपनी कार्य-दक्षताका परिचय कराकर वर्ण-परिवर्तन कर सक्ता था!

ऋषभदेवने यह सब व्यवस्था आषाढ़ कृष्ण प्रतिपदाकी तिथिको नियत करदी थी और इसको पाकर सब लोग खूब प्रसन्न हुये थे। इस समय प्रजा उनको अपना राजा स्वीकार कर चुकी थी और उनके पिता नाभिराय अपना भार पुत्रको देकर एकान्तवास करने लगे थे।

राजा ऋषभदेवने देशकी शासन-व्यवस्था चार क्षत्रिय वीरोंके आधीन की थी। ये क्रमशः हरि, अकम्पन, काश्यप और सोमप्रभ थे। इन प्रत्येकके आधीन भी एक-एक हजारसे अधिक सामन्त-राजा थे। ऐसा विदित होता है कि ऋषभदेवने केन्द्रीय शासन-सत्ता तो अपने और अपने मंत्रिमंडलके अधिकारमें रक्खी थी और देशको चार मुख्य भागोंमें विभक्त करके उनपर उपरोक्त चार राजा-ओंको क्रमशः नियुक्त किया था। यह राजालोग स्थानीय सामंतोंके द्वारा अपने प्रान्तके नगर, ग्राम आदिका सुचारु प्रबंध करते थे। वे स्वयं महाराजा और उनके सामन्त 'अधिराजा' कहलाते थे। इन अधिराजाओंके आधीन भी पांच-पांचसौ छोटे-मोटे शासक थे। इसप्रकार इस सम्बन्धित तारतम्यके द्वारा ऋषभदेवकी सुचारु शासन व्यवस्था थी और यह अपने ढंगकी पहली और अर्ध-प्रजासत्तात्मक थी। प्रजाने ही ऋषभदेवको योग्य जानकर अपना नेता स्वीकार किया था।

प्रारम्भमें क्षत्रियोंके मुख्यतः चार कुल थे। इनमें हरिवंशकी स्थापना राजा हरि द्वारा हुई थी अर्थात् राजा हरिके कुटुम्बवाले 'हरि' वंशके नामसे प्रसिद्ध हुये थे। इसी प्रकार अकम्पनकी सन्तति 'नाथवंशी,' काश्यपके कुटुम्बी-जन 'उग्रवंशी' और सोम-

प्रभ, जिनका अपर नाम कुरुराज भी था, उनके वंशज 'कुरुवंशी' कहलाये थे। उपरान्त इन्हीं चारमेंसे क्षत्रियोंके अन्य कुलोंका जन्म हुआ था। किन्तु ऋषभदेवजीका कुल इनसे भिन्न था। वह 'इक्ष्वाकु' कहलाता था और वह इस कारण कि ऋषभदेवजीने कल्पवृक्षोंके नष्ट होनेपर सबसे पहले इक्षु-रससे भूख मेंटनेका उपाय लोगोंको बताया था. उनके इस महान् उपकारकी स्मृतिमें लोग उन्हें 'इक्ष्वाकु' कहने लगे और उनका कुटुम्ब इसी नामसे प्रसिद्ध होगया। इसी 'इक्ष्वाकु' वंशमेंसे उपरान्त 'सूर्य' और 'चन्द्र' वंशोंकी उत्पत्ति हुई थी। ऋषभदेवजीके दो पोतों-अर्ककीर्ति और सोमप्रभ-ने अपने वंशजोंको इन नामोंसे प्रसिद्ध किया था।

बस, इसप्रकारका था ऋषभदेवजीका जनहितका कार्य और इसके कारण ही लोग उन्हें 'आदिब्रह्मा'-'प्रजापति'-'विधाता'-'स्रष्टा' आदि नामोंसे स्मरण करते हैं। शायद इसी कारण वैदिक धर्मावलम्बियोंने उनकी गणना वैदिक अवतारोंमें की है। हिन्दुओंके वैदिकोंके 'भागवतपुराण' 'ब्रह्माण्डपुराण' 'स्कन्दपुराण' 'कूर्मपुराण' आदि कई ग्रंथोंमें उनका चरित्र श्रद्धाकी दृष्टिसे लिखा हुआ मिलता है। कई एक हिंदू विद्वान् 'ऋग्वेद' (१०-१२-१६६) के निम्न श्लोकमें इन्हीं ऋषभदेवका उल्लेख हुआ प्रगट करते हैं—

'ऋषभं मासमानानां सपत्ननां विषा सहिं।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपितं गवाम्॥

निस्सन्देह ऋषभदेवजी लोकके आदि उपकारक और शिक्षक थे। उनका गौरवमई उल्लेख प्राचीन शास्त्रोंमें मिलना सुसंगत है।

उधर सार्वजनिक जीवनकी तरह ही भ० ऋषभदेवजीका गार्हस्थ जीवन भी उन्नत था। उनकी दोनों रानियां विदुषी थीं। उनमें यशस्वती देवी पट्टरानी थी। चैत्र कृष्ण ९ को इन्हींके गर्भसे सम्राट् भरतका जन्म हुआ था। भरतके अतिरिक्त वृषभसेन आदि सौ पुत्रों और ब्राह्मी नामक पुत्रीको भी इन्होंने जन्म दिया था।

ऋषभदेवकी दूसरी रानीका नाम सुनंदा था। इनके गर्भसे बाहुबलि नामक पुत्र और सुन्दरी नामकी पुत्री जन्मी थी। इस प्रकार ऋषभदेवजीका कुटुंब भरा पूरा था। उनकी सारी संतान योग्य और होनहार थीं। उन्होंने अपने प्रत्येक पुत्र और पुत्रीको समुचित शिक्षित-दीक्षित बनाया था। सबसे पहले उन्होंने अपनी ब्राह्मी और सुंदरी दोनों कन्याओंको ही लिखना, पढ़ना सिखाया। उन्हींके लिये उन्होंने लिपि और गणितका आविष्कार किया। इसी कारण वर्तमान नागरीका प्राचीन रूप "ब्राह्मी लिपि" के नामसे प्रसिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त ब्राह्मी और सुंदरीको उन्होंने अन्य विद्यायें और कलायें भी सिखाई थीं। संगीत और नीति-शास्त्रकी शिक्षा उन्हें खास तौरपर दी गई थीं। इस तरह ब्राह्मी और सुंदरीको भगवानने आदर्श रमणियां बना दिया था। यद्यपि पिताके घरमें उन्हें सब तरहका आराम था और स्वत्व रूपसे उन्हें संपत्तिमें भी अधिकार प्राप्त था; किंतु दुनियांका नाच-रंग उनके लिये फूटी कौड़ी बराबर था। वे आजन्म ब्रह्मचारिणी रहीं और सार्वजनिक हितके कामोंमें ही अपना जीवन विता दिया। महिला महिमा और स्त्री-शिक्षाका महत्व उनके व्यक्तित्वमें मूर्तिमान हो आ खड़ा हुआ।

ऋषभदेवजीने भरत और बाहुबलि आदि अपने सब ही पुत्रोंको भी खूब पढ़ाया लिखाया था और जब वे पढ-लिखकर होशियार और अनूठे स्वास्थ्यके धारक युवा होगये थे, तब उनकी इच्छानुसार विवाह हुये थे। भरतने कानून और राजनीतिमें विशेषज्ञता प्राप्त की थी। तथा नृत्य कलामें भी वह खूब दक्ष थे। उनके छोटे भाइयोंमें बाहुबलि मल्ल और ज्योतिष विद्यामें तथा रत्न और आयुर्वेद शास्त्रोंमें निष्णात थे। वृषभसेन संगीत शास्त्रके ज्ञाता थे। अनन्तवीर्यने नाट्यकलामें क्षमता पाई थी। इसी प्रकार अन्य कुमार भी विद्यावान सुशिक्षित थे। ऋषभदेवजीने इन्हें देश—रक्षाके लिये विभिन्न पदोंपर नियुक्त कर दिया था।

इस प्रकारके सुखी और प्रतिष्ठित कुटुम्बमें ऋषभदेवजी एक दीर्घ समय तक रहे ! किंतु एक रोज जब वह राजदर्बारमें बैठे नीलांजना नामक देव—अप्सराका नृत्य देख रहे थे कि उन्हें संसार असार नजर पड़ने लगा। वह अप्सरा नाचते-नाचते ही मर गई। ऋषभदेवने शरीरकी क्षणभंगुरताका ध्यान करके उसे आत्महितमें लगाने और लोगोंको आत्मस्वातंत्र्यका मार्ग सुझानेमें व्यतीत करनेकी दिलमें ठान ली। उन्होंने कपड़ेलत्ते, राज-पाट और घर-बार, सबका मोह त्याग दिया ! और जिस रूपमें (नग्नदशामें) इस दुनियांमें वह आये थे, उसी रूपको धारण करके अलाहाबादके पास 'सिद्धारथ' नामक वनमें एक वटवृक्षके नीचे जा विराजे और पांच मुट्ठियोंसे बालोंको उखाड़ फेंककर वह 'नमः सिद्धेभ्यः' कहकर आत्मस्थ होगये। उनके साथ ही चार हजार

अन्य राजाओं आदिने भी दिगम्बर रूप धारण कर लिया। आषाढ़ कृष्ण नवमीको यह दिव्य घटना घटित हुई थी।

ऋषभदेवजी छै महीनेके लिये योग मांड़कर खड़े होगये—वह न बोलते थे, न हिलते थे, न डुलते थे—एक मात्र अपनी आत्माके ध्यानमें लीन थे। वह जन्मसे ही अवधिज्ञान (Clairvoyance) के धारी थे और अब उन्हें मनःपर्यय ज्ञान भी होगया था। इसलिये उनका योग और तपश्चरण विज्ञानताको लिये हुये सार्थक था। किन्तु उनके साथ जो चार हजार राजादि साधु होगये थे, वह अन्तर्ज्ञानको नहीं पा पाये थे। तो भी कुछ समय तक ऋषभदेवजीके देखादेखी वह भी काय-क्लेश करते रहे, किन्तु जब उनसे भूख-प्यासकी बाधा सहन न हुई तो वह वनके फलफूल खाकर अथवा लोगोंसे प्रसादी मांगकर अपना पेट भरने लगे और मनमाने ढंगसे लोगोंको उल्टा-सीधा सिखाते-पढ़ाते रहे। इन्हींमें ऋषभदेवजीका पोता मरीचि था। यह उनमें प्रख्यात होगया और इसने सांख्य-दर्शनसे मिलते-जुलते एक दर्शन-सम्प्रदायकी नींव डालदी। किन्तु ऋषभदेवजीके द्वारा ज्ञान-सूर्यका उदय होते ही वह सब विलीन होगये।

छै महीनेकी तपस्या पूरी करके ऋषभदेवजी आहार लेनेके लिये वस्तीकी ओर आये, किन्तु लोग आहार देनेकी विधि जानते ही न थे, इस कारण ऋषभदेवजीको छै महिने तक और निराहार रहना पड़ा। उपरांत हस्तिनागपुरके राजा श्रेयांसको अपने पिछले जन्मकी याद आगई; जिससे उन्हें आहार देनेकी विधि सूझ गई। उन्होंने विधिपूर्वक ऋषभदेवजीको इक्षुरसका आहार कराया और

इसतरह पहले-पहल दान देनेकी प्रथाका श्रीगणेश उनके द्वारा होगया। देव-देवाङ्गनाओंने आकर श्रेयांस राजाके महलमें पंचाश्चर्य किये और देवदुन्दुभि बजाई! और इसतरह वह वैशाख शुक्ला तृतीयाकी तिथि 'अक्षयतृतीया' के नामसे प्रसिद्ध होगई।

आहार लेकर राजर्षि ऋषभदेव वनकी ओर चले गये और फिर ज्ञान-ध्यानमें लग गये। इस लगातार ज्ञान, ध्यान और तपस्याका फल यह हुआ कि ऋषभदेवजी चार घातिया कर्मों—दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय, मोहनीय, अन्तराय कर्मोंको नष्ट करनेमें सफल हुये। आत्मगुणोंके घातक जब ये कर्म नहीं रहे तो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, और अनन्तवीर्य रूपी चतुष्टयका उदय भगवान ऋषभदेवकी आत्मामें होगया! वह अब सर्वज्ञ होगये। इस दिव्य घटनाका समाचार तीन लोकमें फैल गया। स्वर्गसे देवताओंने आकर भगवानका 'ज्ञानकल्याणक' उसी प्रकार मनाया जिसप्रकार वह गर्भ और जन्मकल्याणक उत्सव मना चुके थे।

फाल्गुण कृष्णा एकादशीकी उस पवित्र तिथिको भगवान् पुरिमताल नामक नगरके निकट सकट-वनमें वटवृक्षके नीचे ध्यानारूढ़ बैठे हुये थे। सूर्यके प्रखर प्रकाशकी तरह प्रकट आत्म-प्रकाश वहीं उनकी आत्मामें चमक गया। वह कैवल्यपति होगये! हिन्दू भागवतपुराणमें लिखा है कि 'ऋषभदेव स्वयं भगवान और कैवल्यपति ठहरते हैं। योगचर्या उनका आचरण और आनंद उनका स्वरूप है।×

× हिन्दी विश्वकोष, भा० ३ पृ० ४४४।

सर्वज्ञ होकर ऋषभदेवजीने सर्व प्रथम परलोक सम्बन्धी ज्ञानका उपदेश जगतजनोंको दिया—उन्हें आत्मस्वातंत्र्यताका मार्ग सुझानेके लिये ऋषभ प्रभुने देश-विदेशमें विहार करके धर्मामृतकी वर्षा की! लोगोंके ज्ञान-नेत्र खुल गये। विवेकने उन्हें लोकका वास्तविक रूप दिखा दिया! वहुतेरे स्त्री-पुरुष घरबार छोड़कर साधुधर्म पालनेके लिये भगवान्‌के साथ होगये। अन्य लोगोंने गृहस्थ रहकर ही यथा-शक्ति धर्म पालनेका उद्योग किया! फलतः पहले धर्म-संघकी स्थापना होगई और भगवान् ऋषभदेव पहले तीर्थंकरके नामसे प्रख्यात होगये। उनका बताया हुआ धर्म आज जैन धर्मके नामसे प्रसिद्ध है।

जिस समय ऋषभदेवजीको केवलज्ञान हुआ था, ठीक उसी समय सम्राट् भरतको पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई थी और उनकी आयुधशालामें चक्र-रत्न भी उत्पन्न होगया था। इन तीनों हर्ष-समाचारोंको एक साथ पाकर भरतमहाराज बड़े प्रसन्न हुये और सबसे पहले भगवानकी वन्दनाके लिये चल पड़े। उपरान्त वह आर्य-अनार्य लोगोंको सभ्य और धार्मिक वनानेकी नियतसे दिग्विजय करनेके लिये सेना सजा-कर निकल पड़े और छहों खण्ड पृथ्वीको उन्होंने जीत लिया। एकमात्र उनके भाई बाहुबलिने उनका कहना नहीं माना। इस कारण सिर्फ दोनों भाइयोंमें युद्ध हुआ; जिसके परिणाम स्वरूप बाहुबलिको वैराग्य होगया और वह दक्षिण-भारतकी ओर तपस्या करनेके लिये चले गये। भरत अयोध्याको लौट आये।

अब भरत महाराजको दानपुण्य करनेका भाव हुआ। बस, उन्होंने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णोंमें से धर्मात्मा लोगोंको छांट लिया

और उनका एक अलग वर्ण 'ब्राह्मण' नामका नियत कर दिया। इनका कार्य दान लेना और ज्ञानकी उन्नति करना था। इन्हीं लोगोंको दान देकर भरत महाराज कृतकृत्य होगये। उस समय यह लोग अन्योंकी भांति जैन धर्मानुयायी ही थे। किंतु वादमें इन लोगोंने अपने २ नये २ सम्प्रदाय बना लिये और जैन धर्मसे अलग होकर अपना धर्म प्रचार करने लगे।

एक रोज भरत महाराजने सुना कि उनके पुत्र अर्ककीर्तिके साथ बनारसके राजाने अपनी पुत्री सुलोचनाका व्याह नहीं किया है और उल्टे उससे युद्ध किया है। इस समाचारको सुनकर वह जरा भी क्रुद्ध न हुये; क्योंकि वह जानते थे कि सारा दोष अर्ककीर्तिका है। स्वयंवरमें सुलोचनाने वरमाला अर्ककीर्तिके गलेमें नहीं डाली थी, फिर भला उसे क्या अधिकार था कि वह उसके लिये लड़ता। भरत महाराजने न्यायके सन्मुख अपने पुत्रका पक्ष नहीं लिया। यह एक ही उदाहरण ही उनकी न्यायप्रियता और प्रजा—वत्सलताको बतानेके लिये काफी है।

सम्राट् भरत पहले चक्रवर्ती राजा थे। उनके अटूट धनसम्पदा थी किंतु इसपर भी वह उसमें मुग्ध नहीं थे। वह उसे अपनी ही नहीं मानते थे। । घरमें रहकर ही वह वैरागी थे। धर्म प्रचारके लिये वह सदा उद्यत रहते थे। म्लेच्छ तकके लिये जैन धर्मकी आराधना करने और जैन संघमें आनेका मार्ग उन्होंने खोल रखा था। आखिर अपने पुत्रको राज्यभार सौंपकर वह दिगम्बर मुनि होगये थे।

उधर तीर्थंकर ऋषभदेव एक दीर्घकाल तक धर्मोपदेश देकर अन्तमें हिमालयकी ओर चले गये और वहां कैलाशपर्वतपर आखिरी उपदेश देकर वह योग माढ़कर आत्मस्थ होगये। अब उनकी आयुमें सिर्फ पन्द्रह रोज बाकी रह गये थे। आनंद नामक एक व्यक्तिने यह समाचार सम्राट् भरतको जा सुनाये। उन्होंने सपरिवार आकर कैलाश पर्वतपर भगवानके निकट 'महामह-यज्ञ-पूजन' किया और अन्तमें जब माघ कृष्ण पूर्णमासीके प्रातःकाल भगवान ऋषभदेव मोक्ष गए, तो उन्होंने बड़ा उत्सव मनाया। देवता भी इस समय आगए और वे भी खूब आनन्दोत्सव मनाने लगे।

इस प्रकार श्री ऋषभदेव लोकमें आदि धर्मप्रचारक और भरत महाराज आदि सम्राट् थे।

(३)

श्री राम और लक्ष्मण।

पुराने जमानेमें बनारसका नाम "वाराणसी" था और वह काशी देशकी राजधानी थी। तब वहां इक्ष्वाकु वंशी क्षत्रिय राज-पुरुषकी संतान राज्य करती थी। उनमें राजा दशरथ प्रख्यात थे। श्री राम और लक्ष्मण दोनों दशरथके पुत्र थे।

राजा दशरथ बनारसमें सानंद राज्य कर रहे थे कि एक रोज अयोध्याके प्रतिष्ठित पुरुष उनके राजदरबारमें आ हाजिर हुये। राजा दशरथने उनका आदर-सत्कार किया और उनके आगमनका कारण पूछा। उन लोगोंने उत्तरमें कहा–' राजन्! अयोध्या विना राजाके सूनी पड़ी है। सम्राट् सगरके वंशमें आज कोई महानुभाव जीवित नहीं है, जो अयोध्याका शासन-सूत्र अपने हाथमें ले। बस, महाराज! चलिये और अयोध्याको सनाथ बनाकर हम लोगोंको कृतार्थ कीजिये!' राजा दशरथ इस शुभ-संवादको सुनकर प्रसन्न हुए और उन्होंने अपनी राजधानी अयोध्यामें नियत कर दी। अयोध्यासे ही वह कौशल और काशीके दोनों देशोंपर राज्य करने लगे।

उसी समय मिथिलामें जनक नामके राजा राज्य करते थे। उनके सीता नामकी सुंदर कन्या और प्रभामण्डल नामका सुपुत्र था। कोई २ विद्वान कहते हैं कि सीता जनककी निजकी पुत्री नहीं थी। वह उन्हें खेत जोतते हुए मिली थी। श्री जिनसेनाचार्य सीताको रावण और मन्दोदरीकी पुत्री बताते हैं। काश्मीरी हिंदुओंकी 'रामायण' में भी सीताको मन्दोदरीके गर्भसे जन्म लिखा है। जो हो, सीताका लालन पालन राजा जनकने अपनी निजकी पुत्रीके समान

किया था। सीता और प्रभामण्डल, दोनों ही साथ २ खेला करते थे; किंतु उनका यह सत्संग ज्यादा दिन न रहा। एक रोज कोई विद्याधर प्रभामण्डलको उठा ले गया। बिचारी सीता अकेली रह गई।

उधर भारतपर म्लेच्छोंका आक्रमण हुआ। राजा जनक उस समय यज्ञ कर रहे थे। वह उसे निर्विघ्न समाप्त करना चाहते थे और देशकी रक्षा करनेका भी उन्हें खयाल था। यह दोनों बातें उनके अकेलेके बसकी नहीं थीं। उन्होंने काशी-कौशलके राजा दशरथकी सहायता लेना ठीक समझा और अपना दूत उनके पास भेज दिया।

राजा दशरथ मिथिलेशके संवादको पाकर, बड़े असमंजसमें पड़ गये; क्योंकि वह स्वयं जैन धर्मानुयायी थे।* उनके लिये धार्मिक

---

* राजा दशरथको वैष्णव लोग वैदिक धर्मानुयायी बताते हैं। किंतु स्वयं वैदिक ग्रन्थोंमें ही ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो उन्हें और रामचन्द्रजीको जैनी प्रगट करते हैं! जैसे 'रामायण-बालकांड' (सर्ग० १४ श्लोक २२) के मध्य राजा दशरथका श्रमणोंको आहार देनेका उल्लेख है और 'श्रमण' शब्द जैन साधुओंका द्योतक है। अतः कहना होगा कि वाल्मीक रामायण भी दशरथको जैनमुनियोंका आदर सत्कार करनेवाला प्रगट करती है। इसी रामायणमें है कि रामचन्दजी राजसूय यज्ञ करनेको तैयार हुये थे; किंतु भरतजीने उन्हें अहिंसाका महत्व समझा कर ऐसा करनेसे रोक दिया। यह उल्लेख भी जैन मान्यताका पोषक है। क्योंकि जैनधर्ममें ही हिंसामई यज्ञोंका निषेध है। उधर 'योगवाशिष्ठ' (अ० १९ श्लोक ८) में रामचंद्रजी 'जिन' के समान होनेकी इच्छा प्रगट करते हैं और यह जिन जिनके इष्ट देव हैं। बस, इन उल्लेखोंसे राजा दशरथके यहां जैनधर्मकी पहुंच होना प्रमाणित है।

दृष्टिसे यह एक कठिन समस्या थी कि वह विधर्मी जनकके यज्ञ-कार्यमें सहायता पहुंचायें ! किंतु इस धार्मिक प्रश्नके अतिरिक्त, देशकी रक्षाका प्रश्न मुख्य था। राजा दशरथ और उनके मंत्रि-मण्डलने जनककी सहायता करना आवश्यक समझा। जनकका यज्ञ कार्य भी ब्राह्मण लोगोंकी तरह विशेष हिंसामई नहीं था और उनकी सहायता करनेसे देशका भला तथा उनसे प्रीति होती थी। इन्हीं बातोंको सोचकर राजा दशरथने राम और लक्ष्मणको मिथिलानगरीकी ओर राजा जनककी सहायताके लिये भेज दिया।

राम और लक्ष्मणकी सहायतासे जनकने म्लेच्छोंको मार भगाया और सानन्द अपना यज्ञ समाप्त किया। इसी समय सीताका स्वयंवर भी रचा गया। रामचंद्रजी स्वयंवरकी शर्तको पूरा करने—धनुष तोडनेमें सफल हुये; इस कारण सीताका ब्याह उन्हींके साथ होगया। और सीताकी छोटी बहिन लक्ष्मणकी सहधर्मिणी हुई। आखिर दोनों भाई बड़ी खुशीसे अयोध्या लौट आये। राजा दशरथने उनके मुखसे सारे समाचार सुनकर हर्ष प्रकट किया।

एक दिन रामने दशरथसे बनारसमें जाकर रहने और राज्य करनेकी आज्ञा मांगी। दशरथने बड़ी खुशीके साथ आज्ञा देदी और यह ठीक भी था; क्योंकि प्राचीन भारतमें नियम ही ऐसा था कि लड़केका विवाह करके उसे अलग रहकर अपना पुरुषार्थ प्रकट करनेके लिये अवसर दिया जाता था। राम-लक्ष्मणके विवाह हो चुके थे। अब उन्हें स्वाधीन होकर जीवन-संग्राममें सफलता पालेना जरूरी था। बस, दशरथकी आज्ञा पाकर वह बनारस जारहे।

राम बनारसके राजा हुये और लक्ष्मणके सहयोगसे वह धर्मानुकूल राज्य करने लगे।

राज-दरबारमें एक रोज राम और सीता, साथ-साथ राज-सिंहासन पर बैठे हुये, बातें कर रहे थे। उसी समय नारद वहां पहुंचे। रामने उन्हें देख नहीं पाया और उनका आदर-सत्कार वह न कर सके। मानी नारदने समझा कि रामने सुंदरी सीताके घमण्डसे जान बूझकर उनका अपमान किया है। वह चट आग-बबूला हो वहांसे उल्टे पांव लौट गये और रामको इस करनीका मज़ा चखानेका उन्होंने निश्चय कर लिया। वह सीधे लंकाको चले गये और रावणके सामने जा खड़े हुये। रावणने उनको आदरसे बैठाया और उनका समुचित सत्कार किया। नारद बहुत प्रसन्न हुये। उन्होंने मौका पाकर रावणसे कहा—"मैं अभी बनारससे आरहा हूं। वहां मैंने रामकी रानी सीताको देखा है। सचमुच राजन्! वह रमणी-रत्न है। राम जैसे छोटेसे राजाकी रानी होनेके योग्य वह थोड़े ही है? वह तो आप जैसे विद्याधर सम्राट्के महलकी शोभा बढ़ाने योग्य है!" नारदके वचनोंने रावणको बेताब बना दिया।

उधर राजा दशरथने एकांतवासका विचार करके रामको राज-सिंहासन देनेकी घोषणा कर दी। इस घोषणाको रामकी सौतेली मां कैकईने भी सुना। उसे यह बरदाश्त न हुआ। उसने राजा दशरथसे पहले दिया हुआ अपना वचन मांगा। राजा दशरथने उसे वर मांग लेनेकी स्वीकारता दे दी। कैकईने भरतको राज्य और रामको बारह वर्षका बनवास देनेकी बात कही। दशरथके इस

अनहोनी बातको सुनकर काटो तो खून न रहा। उन्होंने बहुत चाहा कि कैकई और कुछ मांगले; किंतु कैकई न मानी। आखिर राम और सीता कौशल राज्यसे निर्वासित कर दिये गये। लक्ष्मण भी उनके साथ हो लिये।

इस वनवासमें राम-लक्ष्मण घूमते हुये एक वनमें पहुंचे। वहां लक्ष्मणसे अजानमें रावणकी बहन चंद्रमुखीके पुत्र संभुकका वध होगया। रावणने जब यह बात सुनी तो वह अपने बहनोई खरकी सहायताके लिये सेना लेकर आ पहुंचा। दोनों भाईयोंसे खरकी लड़ाई हुई।

रावणने सीताको ले उड़नेके लिये यह मौका अच्छा समझा और उसने किया भी ऐसा ही। खरपर राम-लक्ष्मणकी विजय हुई जरूर किन्तु सीताके लापता हो जानेसे वे बड़े हैरान हुये।

खरदूषणसे युद्ध करनेमें विद्याधर विराधितने राम-लक्ष्मणकी पूरी सहायता की थी। इस समय भी उसने दोनों भाइयोंको ढाढ़स बंधाया और उन्हें अपने नगर लिवा ले गया। राम, सीताके वियोगमें व्याकुल होरहे थे कि किहकूपुरका राजा सुग्रीव उनके पास आया। वह भी अपनी पत्नीको पानेके लिये तड़फड़ा रहा था। बात यह थी कि एक विद्याधरने उसकासा रूप बनाकर उसके राज महलपर अधिकार कर लिया था और वह उसे मार भगानेमें असमर्थ था। राम लक्ष्मणने सुग्रीवकी सहायता करके सीताका पता लगाना सुगम समझा। इसीलिये वे सुग्रीवके साथ किहकूपुरको चले गये। वहां वेषधारी सुग्रीवसे उनका घोर संग्राम हुआ, जिसमें विद्याधर हार गया और सुग्रीवको उसकी रानी मिल गई।

अब सुग्रीवने इधर उधर दूत भेजकर सीताका पता लगाया और राम लक्ष्मणको मालूम होगया कि सीताको लंकाका रावण हर लेगया है। उन्होंने एकदम उसपर धावा बोल देनेका प्रस्ताव उपस्थित किया; किंतु सुग्रीवका मंत्री मण्डल इसके लिये तैयार न था। आखिर उन्होंने यह निश्चय किया कि यदि लक्ष्मण कोटि शिलाको उठाले तो उन्हें रावणपर आक्रमण करनेमें कोई आनाकानी न होगी। सब लोग कोटि शिलाकी यात्राको गये और वहां जिनेंद्र भगवानका स्मरण करके लक्ष्मणने कोटि शिलाको उठा दिया। सब लोग प्रसन्न हुये और रावणपर धावा बोलनेकी तैयारी होने लगी। सुग्रीवने अपने मित्रोंपर दूत भेज दिये और इधर हनुमानजीको सीताजीकी खबर लेनेके लिये भेज दिया गया।

हनूमानजीने लंका जाते हुए दधिमुख (ईरान) देशमें दो जैन मुनियोंकी रक्षा की और फिर लङ्कामें सीताकी खबर लेकर वह बिभीषणसे मिले तथा उनके द्वारा यह बात प्रगट की कि रावण सीताको लौटा दे; किंतु दुष्ट रावण इस बातपर राजी न हुआ। आखिर वह राम-लक्ष्मणके पास लौट आये और तब सब लोगोंने मिलकर रावणकी लङ्कापर चढाई कर दी। सीताका भाई प्रभामण्डल भी रामकी सहायताके लिये आगया था।

रामके आक्रमणके समाचार पाकर रावण भी युद्धक्षेत्रमें आ डटा; किन्तु अधर्म और अन्यायके कारण वह लाख कोशिश करने पर भी विजय न पा सका। लड़ाईमें उसके सगे-संबंधी मारे गये और वह स्वयं लक्ष्मणके हाथसे तलवारके घाट उतर गया। अधर्म

और अन्यायका अंत होगया। रामको सीता मिलगई और विभीषण लंकाके राजा बना दिये गये।

इस कालमें रामके वनवास संबंधी बारह वर्ष भी पूरे होगये और वह अयोध्याकी ओर लौट चले। भरतजीने उनका स्वागत किया और वह राजा होगये। राजा होकर रामने प्रजाकी रक्षा और शासन इस उत्तम रीतिसे किया कि आजतक लोग उसे भूले नहीं हैं। बल्कि अच्छे राज्यका नामकरण ही "राम-राज्य" होगया है। प्रजाको संतुष्ट रखनेके लिए ही रामने सीताको त्याग दिया था। आखिर वनवासमें लवकुशको जन्म देकर सीताने आर्यिकाके व्रत लिये थे। और वह शुभ परिणामोंसे इस नश्वर देहको छोड़कर स्वर्गमें देव हुई। उधर राम और लक्ष्मण भी जैन मुनि होगये। रामने घोर तपश्चरण किया और उन्होंने हनूमान, सुग्रीव आदिके साथ तुंगीगिरि परसे मुक्तिरमाका वरण किया था। जैनी उनकी सिद्ध-परमात्माके रूपमें उपासना करते हैं।

इस प्रकार राम अपने धर्म और न्याय पालनके लिये, सीता पातिव्रत्य धर्मके लिये और रावण अपने पापके लिये संसारमें प्रख्यात हैं।

(४)

श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि।

मथुरा प्राचीनकालसे जैन धर्मका केन्द्र रही है। और अबतो वह जैनियोंका एक तीर्थ-स्थान है। एक समय वहां हरिवंशके क्षत्रिय राज्य करते थे। उन राजाओंमें एक राजाका नाम यदु था। यह राजा बड़ा पराक्रमी था और इसके नामको लेकर हरिवंशी 'यादव' भी कहलाने लगे। राजा यदुके उपरान्त मथुराका राज्य उनके पुत्र शूरको मिला था। जिनके शौरी और सुवीर नामके दो पुत्र थे। शूरके बाद मथुराके राजा शौरी हुये, किंतु उन्होंने अपने छोटे भाई सुवीरको वहांका राजा बना दिया और वह स्वयं कुशार्त देशमें जाकर शासक बन गये। वहां उन्होंने शौरीपुर नगरको बसाया। अंधकवृष्णि आदि इनके पुत्र हुये और उधर सुवीरके पुत्र भोजवृष्णि आदि थे। राजा सुवीरने भी आखिर मथुराका राजसिंहासन अपने पुत्र भोजवृष्णिके हकमें छोड दिया और वह सिंधु देशमें सौवीरनगरकी स्थापना करके वहांका राज्य करने लगे। इसप्रकार जादवगण मथुरासे निकलकर दूर २ देशोंमें फैल गये।

उग्रसेन भोजवृष्णिके पुत्र थे और इन्हीं उग्रसेनका पुत्र कंस था। श्रीकृष्णके समयमें कंस ही मथुराका राजा था।

अंधकवृष्णिके दश पुत्र (१) समुद्रविजय, (२) अक्षोभय, (३) स्तिमित, (४) सगर, (५) हिमवन, (६) अचल, (७) धारण, (८) पूर्ण, (९) अभिचन्द्र और (१०) वसुदेव थे। कुन्ती और मद्रि—उनकी दो कन्यायें थीं; जो क्रमशः पाण्डु और दमघोषको ब्याहीं गईं थीं।

श्रीकृष्ण वसुदेवजीके पुत्र थे। कंसको अतिमुक्तक मुनि द्वारा ज्ञात होगया था कि श्रीकृष्ण ही उनके सर्वनाशका कारण होंगे। इसलिये कंसने वसुदेव और उनकी पत्नी देवकीको अपना बंदी बनाकर रक्खा था। उनकी प्रत्येक संतानको वह मारता जाता था। आखिर श्रीकृष्णका जन्म भी उसी बंदीगृहमें हुआ; किंतु यह महा-पुरुष कंसके हाथ न लगा। व्रजके नंदगोपके यहां उसे आश्रय मिल गया। नंदगोपकी निरपराध कन्या कंसकी कोपाग्निमें स्वाहा हो गई!

धीरे२ श्रीकृष्ण वड़े होगये और वह अपने सौतेले भाई बल-रामके साथ आनन्द रेलियां करने लगे। अपने पराक्रम और भुज-बलके लिये ये दोनों भाई चारों ओर प्रसिद्ध होगये। कंससे भी यह बात छिपी न रही। अनेक उपायों द्वारा उसने जान लिया कि मेरा शत्रु श्रीकृष्ण है। वह रातदिन विकल रहने लगा। बहुतसे प्रयत्न उसने श्रीकृष्णको नष्ट करनेके लिए किये; परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। अंतमें स्वयं कंसका युद्ध दोनों भाइयोंसे हुआ और वह उनके हाथों यमलोक प्रयाण कर गया।

वसुदेवके भाई समुद्रविजय शौरीपुरमें राज्याधिकारी थे। शिवादेवी उनकी रानी थी। श्रावण शुक्ल पंचमीके शुभ दिन उनके कोखसे एक पुत्र–रत्नका जन्म हुआ। यह पुत्र इतना भाग्यशाली था कि इसके जन्म समय सारे संसारमें आनंद ही आनंद छा गया। खुद देवोंने स्वर्गसे आकर जन्म महोत्सव मनाया। यही भगवान अरिष्टनेमि थे और श्रीकृष्ण एवं यह चाचा-ताऊके लड़के भाई २ थे। इनका आपसमें गहरा प्रेम था।

कंसको मारकर श्रीकृष्ण मथुराके राजा बन तो गये; किन्तु वह वहां शांतिसे न रह सके। कंसके श्वसुर जरासिंधुने उनपर बेढब आक्रमण करना शुरू कर दिया। इन आक्रमणोंसे तंग आकर याद-वोंने मथुरा और शौरीपुरको छोड़ दिया। वह पश्चिमकी ओर जाकर समुद्र किनारे बस गये। उन्होंने द्वारिकाको जन्म दिया और उसे ही अपनी राजधानी बनाया; किंतु जरासिंधुने उनका पीछा यहां भी नहीं छोड़ा। वह बडी भारी सेना लेकर द्वारिकापर आ चढ़ा। याद-वोंने भी अबकी खूब लाव-लश्कर इकट्ठा कर लिया। पांडव भी उनकी मददको आगये। खूब घमासान युद्ध हुआ। जरासिंधुने अजेय चक्रव्यूहकी रचना की। किंतु श्रीकृष्ण, अर्जुन, अरिष्टनेमि और वसुदेवने उसे भङ्ग कर दिया। जरासिंधु इस युद्धमें वीर गतिको प्राप्त हुआ और यादवोंको एक भारी शत्रुसे छुटकारा मिलगया।

अरिष्टनेमि तीर्थङ्कर महापुरुष थे। उनका शरीर अनुपमेय था। किन्तु एक बात उनमें खास थी। वह था उनका वैराग्यभाव। राजपुत्र होकर भी वासना और आकांक्षा उन्हें छू नहीं गई थी। फिर भी श्रीकृष्णको यह अंदेशा था कि अरिष्टनेमि कहीं राज्यके लिये उनसे झगड़ा न करे। अरिष्टनेमिके बाहुबलके वह स्वयं कायल थे। एक दफा शारीरिक बलकी आजमायशमें श्रीकृष्ण उनसे नीचा देख चुके थे।

आखिर श्रीकृष्णको एक चाल सूझ गई। उन्होंने अरिष्टने-मिका व्याह रच डाला और उस व्याहमें मांस-भक्षक राजाओंकी आवभगतके लिये कुछ पशुओंको बाड़ेमें भूखा-प्यासा बंद करा

दिया। गिरिनारके राजा उग्रसेनकी राजकुमारी राजुल अरिष्टनेमिकी भावी पत्नी हुईं। बारात चढ़कर गिरिनार तक पहुंच गई। अरिष्टनेमिने वहां वाड़ेमें बंद पशुओंको बिलबिलाते हुये देखा। उनके दयालु चित्तको गहरी चोट लगी। उसी क्षण उन्होंने उन पशुओंको छुड़ा दिया और स्वयं दुनियांके स्वार्थपर दुःख प्रकट करते हुये घर लौट आये। संसारसे उनका मोह पहले ही नहीं था। वह झट घरसे निकल पड़े। राज-पाट, कपड़े लत्ते सब त्यागकर वह गिरिनारपर जाकर तप तपने लगे। जहां उन्होंने एक रोज जरासिंधुकी सेनासे युद्ध करके हिंसक संग्राम मचाया था, वहां साधु बनकर उन्होंने सत्य अहिंसामई युद्धका अनुष्ठान किया। कर्मशत्रुओंको उन्होंने मार भगाया। वह सर्वज्ञ होगये और उन्होंने प्राणीमात्रके हितके लिये अहिंसा-धर्मका उपदेश दिया। अनगिनती लोग उनकी शरणमें पहुंचे। पशुओं तकको उनके संदेशसे सुख और शान्ति नसीब हुई।

श्रीकृष्ण और उनका सारा परिवार भी भगवान् अरिष्टनेमिकी बन्दनाके लिए आया। राजकुमारी राजुलने भी संसारके मोहसे नाता तोड़ लिया था। वह साध्वी होगई थी। एक रोज़ श्रीकृष्णने भगवान्से द्वारिकाका भविष्य पूछा। भगवान्‌ने बतलाया कि "द्वारिकाकी समृद्धि ज्यादा दिनोंतक स्थायी नहीं रह सक्ती। यादवपुत्र मदमत्त होकर द्वीपायन मुनिका अपमान करेंगे और उनके कोपमें द्वारिका तथा सारे यादव नष्ट हो जांयगे। मात्र श्रीकृष्ण, बलराम और जरत्कुमार बच रहेंगे।" द्वारिकाके इस भयङ्कर भविष्यको सुनकर

सब थर्रा गये। श्रीकृष्णने ऐतिहातन यादवोंमें मद्यनिषेधका कानून बना दिया। द्वारिकाकी सारी शराब बाहर जंगलमें फेंक दीगई और वह पथरिले गड्ढोंमें जाकर जमा होगई! लोगोंने संतोषकी सांस ली। किन्तु होनी अमिट होती है, इसपर किसीने ध्यान न दिया!

इस बीचमें हस्तिनापुरके पांडवों और कौरवोंमें महायुद्ध हुआ। श्रीकृष्णने बहुत चाहा कि यह घरेलू-युद्ध न छिडे; किंतु कौरवोंकी दुर्बुद्धिने कुछ भी न माना। आखिर बड़ा भारी युद्ध हुआ, जिसने आर्योंको तबाह कर दिया और पांडवोंको भी न कहींका रक्खा। भगवान अरिष्टनेमिके निकट उन सबने जिनदीक्षा लेली और मुनि होकर उन्होंने शत्रुंजय पर्वतपरसे निर्वाण और स्वर्गसुख प्राप्त किया था।

उधर द्वारिकामें यादवगण धर्मपालनमें शिथिल हो चले। मद्य और मांसके लिये उनकी जीभ चटकारे लेने लगी। लुकाछिपीसे वह अपने शौकको पूरा करने लगे। आखिर एक रोज वही आफत आ खड़ी हुई, जिसका डर था। कुछ यादवकुमार बाहर वनक्रीडाको गए थे। उन्होंने पहलेकी फेंकी हुई शराब पा ली और खूब छकी। उन्हें तन मनकी सुध न रही। रंगरेलियां करते हुये जब वह लौटे तो उन्होंने मुनि द्वीपायनको बाहर ध्यानमें लीन खड़ा देखा। उन्हें देखते ही उनके दिलोंमें प्रतिहिंसाकी आग निकली। वे बोले, "यही तो वह दुष्ट है जो द्वारिकाको भस्म करेगा। यह यहां आया क्यों? कैसा ढोंगी? आओ इसे ठीक करें।" इन शब्दोंके साथ ही वे

द्वीपायनपर टूट पड़े। ऋषिराज पहले तो इनके उपद्रवोंको शांत चित्तसे सहते गये; किंतु जब यह उसपर भी न माने और इनके उपद्रव बढ़ते गये तो वह भी अपनी साधुताको गंवा बैठे। जितने वह शीतल-शांत थे, उतने ही वे प्रज्वलित-उद्विग्न होगये और उन्होंने अपनी कोपाग्निसे सारी द्वारिकाको भस्म कर दिया। श्रीकृष्ण, बलराम और जरत्कुमार ही बच रहे! भगवान्‌की भविष्य-द्वाणी सच्ची उतरी!

श्रीकृष्ण और बलराम अपनी जान लेकर भागे और जाकर एक जंगलमें थके मांदे पेड़ तले पड़ रहे। प्यासने उन्हें बुरी तरह सताया। बलराम पानीको ढूँढ़ने चले गये। अकेले रहे कृष्ण पेड़के सहारे लेट गये। उनके तलवेमें पद्म चिह्न था, वह दूरसे ऐसा चमक रहा था, मानो शेरकी आंख हो। जरत्कुमार भी इसी वनमें आ निकला। दूरसे उसने वह आंखसा पद्म देखा। उसने चट कमान-पर तीर चढाया और निशाना तकके ऐसा मारा कि श्रीकृष्णके पद्मको आरपार कर गया। नारायणकी मृत्यु इस पद्म-वेधसे अव-श्यम्भावी होगई। जरत्कुमारने पास आकर जो यह देखा तो उसके कांटों तो खून न रहा। श्रीकृष्णने उसे ज्ञानकी बातें सुझाईं। कहा "यह आत्मा तो अजर अमर है। तुम्हारे घातक बाणसे मेरी आत्माका कुछ नहीं बिगड़ा है। रहा शरीर, सो यह नश्वर है। इससे पीछा छूटे तो अच्छा है। अब भाई, एक बात मानो! बलराम पानी लेने गये हैं। वह न आने पायें इसके पहले ही तुम यहांसे चले जाओ!" नारायणकी आज्ञाको जरत्कुमार टाल न सका! वह चला गया।

श्रीकृष्णने तीर्थंकर अरिष्टनेमि और सिद्ध भगवानका मनमें स्मरण किया; किंतु इसी समय एक भयानक आंधीने आकर कृष्ण-जीके शरीरको छिन्न भिन्नकर दिया। उन्हें द्वीपायनपर क्रोध आगया। इन रौद्र परिणामोंमें सना हुआ उनका आत्मा नाशवान देहको छोड़ गया।

बलरामने लौटकर देखा, उनका भाई अब वहां नहीं है। वह उनके मोहमें पागल होगये। वह श्रीकृष्णके शवको लिये हुये लगातार छै महीने तक इधर उधर घूमते रहे। बलरामसे विद्वान मोहद्वारा ठगे जांय, यह एक देवतासे न देखा गया। उसने आकर उन्हें संबोधा और शवका दाह-कर्म कराया। भ० अरिष्टनेमिने भी इस समय बलरामपर अनुग्रह किया। उन्होंने एक मुनिराजको उनके पास भेज दिया; जिनके उपदेशसे बलराम मुनि होकर तपस्या करने लगे और मरकर ब्रह्मलोक स्वर्गमें देवता हुये।

स्वर्गमें पहुंचकर भी सबसे पहले उनका ध्यान अपने भाई श्रीकृष्णकी ओर गया। देवोंको जन्मसे ही अवधिज्ञान (Clair-voyant Knowledge) होता है। बलरामके जीवको भी वह नसीब था। उसके द्वारा उन्होंने देखा कि उनका भाई तीसरे नर्कमें पड़ा हुआ दुःख भोग रहा है। वह झटसे वहां गये और उन्हें उस दुःख-गर्तसे निकालनेके लिये प्रयत्न करने लगे; किंतु विवेकी कृष्णकी आत्माने समझाया—"भाई, मोहमें पागल मत बनो! अपने किये कर्मका फल सबहीको भोगना पड़ता है। मैंने मरते समय द्वीपायन ऋषिपर क्रोध करके परिणामोंको रौद्र बना लिया—

उस रौद्रताका ही प्रायश्चित्त मैं यहां कर रहा हूं। तुम घबड़ाओ मत। भगवान् अरिष्टनेमिके वचनोंपर श्रद्धा लाओ। एक रोज मैं यहांसे निकलकर स्वर्गमें जन्म लूंगा और वहांकी आयु पूरी करके जितशत्रु राजाका पुत्र होऊंगा। तब सर्वज्ञ होकर मैं धर्मप्रचार करूंगा और मेरे साथ तुम भी निर्वाण पाओगे।" कृष्णकी यह बातें सुनकर बलरामको संतोष हुआ और उनका भाई भावी तीर्थंकर है, यह जानकर वह हर्षित हुये, स्वर्गको चले गये!

भ० अरिष्टनेमिने सर्वत्र धर्मप्रचार करके आखिर गिरिनार पर्वतपर आसन जमा दिया। आषाढ़ शुक्ला अष्टमीके दिन उन्होंने शरीर-पाशको काट डाला। वह मुक्त होगये। देवों और मनुष्योंने बड़ा उत्सव मनाया और लोग अभीतक श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमिके नामोंको पूज रहे हैं।

(५)

अहिंसा और सैनिक।

जिनेन्द्र भगवान्की धर्म देशनामें मुमुक्षुओंने सुना–'प्रमत्त-योगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'–अर्थात् 'प्रमादके योगसे प्राणोंके व्यपरोपणको 'हिंसा' कहते हैं। 'प्रमाद' शब्दका अथ काम-क्रोधादिक विकार, 'प्राण' शब्दका अर्थ आत्माके स्वाभाविक विवेक आदि सद्गुण और 'व्यपरोपण' शब्दका अर्थ घात है। इसलिये हिंसा वही है जिसमें क्रोधादि विकारोंके योगसे अपनी या परकी आत्माके विवेक आदि सद्गुणोंका घात हो। और वह दो प्रकारकी है, (१) भाव हिंसा, और (२) द्रव्य हिंसा। रागादिक भावोंके कारण भाव प्राणोंका नाश होना 'भाव हिंसा' है। मनमें किसीके भले-बुरेका ध्यान करना अथवा क्रोधादि करना-यह सब भाव हिंसा है। और द्रव्य हिंसा' प्राणीके कायिक नाश अथवा कष्ट देनेमें गर्भित है। मुमुक्षुओंको दोनों प्रकारकी हिंसासे बचना चाहिये।'

एक शिष्य बोला–'प्रभो! जब लोकमें जंतु ही जंतु भरे हुये हैं, तब हिंसासे बचना कैसे संभव है?'

जिनेन्द्रकी वाणीमें उत्तर मिला, 'वत्स! लोकके सूक्ष्म प्राणी तो किसीसे घाते ही नहीं जाते और स्थूल प्राणियोंमें जिनकी रक्षा की जासकती है, उनकी की ही जाती है। याद रक्खो, भाव हिंसाके विना द्रव्य हिंसा हिंसा नहीं है। यत्नाचार पूर्वक अपना वर्ताव रखनेपर भी यदि किसी जीवका घात होजाय तो वह हिंसा नहीं है;

क्योंकि प्राणीके भाव हिंसारूप नहीं थे। भाव और द्रव्य दोनों प्रकारकी हिंसाका मन, वचन, कायसे त्याग करना अहिंसा है। अहिंसाका पालन करना सुगम है।'

शिष्यने फिर पूछा—'नाथ! यह कैसे संभव है कि जीवन-संग्राममें पूर्ण अहिंसक बनकर कोई जीवन तेर कर सके!'

वाणीमें सुनाई पड़ा—'मोहका परदा प्राणियोंके विवेकपर पड़ा हुआ है। इसी लिये वह सत्यकी उपासना करनेसे डरते हैं। जिन महानुभागोंके विवेक नेत्र खुल गये हैं, वह अहिंसाका पूर्णतः पालन करते हैं; किन्तु फिर उन्हें दुनियादारीसे कुछ मतलब नहीं रहता—वह परमार्थके रास्ते लग जाते हैं। उनका यह नियम 'अहिंसा महाव्रत' है। इस 'महाव्रत' का पालन बेशक हरकोई नहीं कर सक्ता। साधारण प्राणी 'सत्य' से भटका हुआ है-वह संसारके ममता-जालमें फंसा हुआ है। उसके लिये अहिंसाका आंशिक पालन करना ही पर्याप्त है। यह गृहस्थोंका 'अहिंसा अणुव्रत' है। इसको पालते हुये प्रत्येक प्राणी जीवनसंग्राममें सफल सैनिक बन सक्ता है-केवल उसे जान बूझकर-संकल्प करके किसीके प्राणोंकी हिंसा करनेका त्याग करना होगा।'

एक सैनिक इस धर्मोपदेशको सुनकर बड़े असमंजसमें पड़ गया—वह हैरान था—युद्धमें तो उसे जान बूझकर नर-हत्या करनी पड़ती है; फिर वह अहिंसक कैसा? आखिर उसनेभी अपनी शङ्का भगवान्‌के सामने उपस्थित करदी। उसपर फिर वाणी खिरी और सैनिकने सुना:—

"वत्स! जीवन एक संघर्ष है और गृहस्थको उसमें अपने पुरुषार्थको प्रकट करना उचित है। यदि गृहस्थ यह न करे और कायर बन जाय, तो वह अपने कर्तव्यसे च्युत होजाय। तीर्थंकरोंका धर्म कायरोंके लिये नहीं है—निशङ्क वीर ही उसका पालन कर सक्ते हैं। किसी प्रकारका भय ऐसे वीरको छू नहीं जाता। वस, जो स्वयं अभय है वह दूसरोंको अभय बनाना धर्म समझेगा। उसकी असि-वृत्ति अर्थात् तलवारका जोर इसी धर्मकार्यके लिये है और तीर्थंकरोंने असि-कर्मको आजीविकोपार्जनके कार्योंमें मुख्य बताया है। प्राणीरक्षा अथवा राष्ट्रोद्धारके लिये युद्ध करना लोकमें धर्मका एक अङ्ग माना गया है और उसका पालन करना प्रत्येक सैनिकका कर्तव्य है। एक क्षत्रिय अथवा सैनिकका अहिंसाव्रत मात्र इतना ही है कि वह निरर्थक हिंसा न करे, "निरर्थकवधत्यागेन क्षत्रिया व्रतिनो मताः।" अतः युद्धमें इस बातका ध्यान रखना आवश्यक है कि वह क्रोध, स्वार्थ, मान और दर्पके कारण न लड़ा जाय!"

सैनिकने कहा—"अनाथनाथ! यह तो समझा; किन्तु मूलमें युद्ध नरहत्याकी खान है। उस हिंसासे मुक्ति कैसे मिले?"

सैनिकने सुना—"ठीक है वत्स! जानते हो, धर्ममें भाव अथवा परिणामकी प्रधानता है। यह मानी हुई बात है कि विना भावके मनमें निश्चयात्मक विचार हुये विना कोई कार्य नहीं होसक्ता। अच्छा, तो अब यह स्पष्ट है कि बुराई-भलाई और पुण्य-पाप अच्छे बुरे भावोंपर निर्भर है। अब देखो, जो धर्मयुद्ध कहा जाता है, उसमें कौनसा मूल भाव प्रेरक है? यही न कि [illegible] अभय बनाया

जाय, अत्याचार औरअधर्मको मेटा जाय। सचमुच इस भावमें क्रूरता जरा भी नहीं है। तीर्थंकरोंने इसे करुणाभाव कहा है, क्योंकि दीनोद्धारकी बुद्धि इसमें कार्यकारी है (दीनाभ्युद्धरणे बुद्धिः कारुण्यं करुणात्मनाम्) भला, इसमें भावहिंसा कहां है? और जब भावहिंसा नहीं तब द्रव्यहिंसा हिंसा ही नहीं है, यह तुम जानते हो! एक डाक्टर सावधानीसे आपरेशन कर रहा है—बड़ी वेदरदीसे उसके हाथ शरीरकी काट छांटमें लगे हुये हैं। भला बताओ, क्या वह हिंसा करता है?'

सैनिक—"नहीं, वह तो रोगीकी रक्षाके लिये शरीरकी काटछांट करता है।"

"मानलो इस ऑपरेशनमें उस रोगीकी मृत्यु होगई तो क्या तुम उस डाक्टरको नरहत्याका दोषी कहोगे?"

सैनिक—"नहीं, प्रभो! डाक्टर तो रोगीको भला-चङ्गा करनेका ही उद्योग कर रहा था।"

"बस, ठीक यही बात धर्मयुद्धमें है। वहां भी परोपकारकी दयालु वृत्ति अपना काम करती है। इसलिये वह हिंसा नहीं है। हिंसा अन्यथा संकल्पी, आरंभी, उद्योगी और विरोधी, इसप्रकार चार प्रकारकी है। गृहस्थ संकल्पी अर्थात् जान बूझकर—'यह चीटी है; लाओ, इसे मार डालूं' इस प्रकारकी हिंसाका त्यागी है। घरगिरस्थीके काममें होनेवाली 'आरंभी' हिंसा, वणिज-व्यापारमें होनेवाली उद्योगी हिंसा और अपने-पराये तथा धर्म-देशकी रक्षाके निमित्त होनेवाली 'विरोधी हिंसा' का वह त्यागी नहीं है। इस प्रकारकी

हिंसाके विचारसे वह अपने कर्तव्यसे च्युत नहीं होता क्योंकि वह उसकी कक्षासे ऊपरकी है।

अहिंसा धर्मका यही रहस्य है। उसे सच्चे सैनिक ही पाल सक्ते हैं। तीर्थंकर श्री अरहनाथ, शांतिनाथ और कुन्थनाथने स्वयं अपने हाथमें तलवार लेकर छहों खण्ड पृथ्वीको जीता था। उन्होंने यह 'दिग्विजय' मात्र अधर्म और अत्याचारको मेटनेके लिये की थी। इसलिये प्रत्येक प्राणीको—चाहे वह सैनिक हो या अन्य कुछ-अहिंसा धर्मका पालन करना सुगम और आवश्यक है। यह लोकका कल्याण कारक है।"

मुमुक्ष-मण्डलने अहिंसा धर्मकी यह व्याख्या सुनकर हर्ष प्रगट किया और वह जिनेन्द्र भगवानकी वन्दना और यश गान करनेमें लग गए।

(६)

भगवान् पार्श्वनाथ ।

बनारसके बगीचेमें एक साधु हठयोग मांडे बैठा था । वह पंचाग्नि तप रहा था । तब यज्ञ और हठयोगका बड़ा जोर था । साधु जीवनको लोगोंने भ्रष्ट कर रक्खा था । गृहस्थोंकी तरह आश्रमोंमें रहना, साधुओंमें एक चलन होगया था । मांस और मदिरासे भी उन्हें परहेज नहीं था । यज्ञोंके नामपर पशु हिंसा खूब होती थी । जमाना बड़ा भयानक था । जनता दुखी थी । सब चाहते थे कि कोई उन्हें आकर बचाले । आखिर उसकी मनचेती हुई । राजकुमार पार्श्वनाथमें उसे शरण मिल गई ।

राजकुमार टहलते हुये उसी बगीचेमें आ निकले जिसमें साधु बैठा पंचाग्नि तप रहा था । उन्होंने पहचाना, 'यह तो मेरे नाना हैं ।' उनका जी इनकी धर्ममूढ़ता पर तरस खागया । और हां, उन्होंने अपने ज्ञाननेत्रसे यह भी देखा कि जिस लक्कड़को साधु जला रहा है, उसकी खुखालमें सांपका एक जोड़ा मरणासन्न होरहा है । राजकुमारने साधुको सम्बोधा; किन्तु हठी और घमंडी परिव्राजकको यह सहन न हुआ । वह बहुत बिगड़ा । आव गिना न ताव, झटसे उठकर कुल्हाड़ीसे जलता हुआ लक्कड़ फाड़ने लगा । सचमुच उसमेंसे बिलबिलाता हुआ सर्प युगल निकल पड़ा । दयालु पार्श्वनाथने उन्हें शांतिप्रदायक धर्म वाणी सुनाई; जिसके प्रभावसे वे मरकर नागराज हुये । उनका नाम धरणेन्द्र और पद्मावती प्रसिद्ध होगया ।

साधु यह देखकर कटा तो जरूर; किन्तु पंचाग्नि तपना उसने नहीं छोड़ा। राजकुमार पार्श्वनाथने बहुत कुछ समझाया। कहा, 'ज्ञानके विना कोरा हठयोग—कायक्लेश कार्यकारी नहीं है। यह पंचाग्नि जीवहिंसाका घर है। भला हिंसामई कार्यमें धर्म कैसे होसक्ता है।' किन्तु मूढ़मति साधुकी समझमें कुछ भी न आया।

राजकुमार पार्श्वनाथ लौटकर अपने राजमहल चले आये। यह घटना ई० पूर्व आठवीं शताब्दीमें घटित हुई थी। तब बनारस, काशी नामक देशकी राजधानी थी और राजा विश्वसेन वहां राज्य करते थे। राजकुमार पार्श्वनाथ इन्हींके सुपुत्र थे। जिस समय राजकुमार पार्श्वनाथ रानी वामादेवीके गर्भमें आये थे, उस समय उन्होंने अच्छे अच्छे सोलह सपने देखे थे। उनके फल स्वरूप राजाने जान लिया था कि उनके बड़ा होनहार पुत्र होगा। वह तेईसवें तीर्थंकर होंगे। सचमुच भ० पार्श्वनाथ २३वें तीर्थंकर ही थे।

तीर्थंकरोंके गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण—इन पांच सुअवसरोंपर देव और मनुष्य आनन्दोत्सव मनाते हैं। यह 'पंच-कल्याणकोत्सव' कहे जाते हैं। तीर्थंकर पार्श्वनाथके सम्बन्धमें भी यह घटित हुए थे।

जब पार्श्वनाथ युवा हुये तो उनके माता-पिताने चाहा कि इनका व्याह होजाय; किन्तु वह इस प्रस्तावपर राजी न हुये। उन साधु आश्रमोंका वह सुधार करना चाहते थे जिनमें ब्रह्मचर्य नाममात्रको रह गया था। फिर वह विवाह कैसे करते। इसके साथ ही उन्होंने अयोध्याके राजदूतकी जबानी वहांके राजाओंकी

चरितावली सुनी। भगवान् ऋषभदेवकी जीवनीने उन्हें प्रभावित कर दिया। वैराग्य उनके रोम-रोममें समा गया। वह घर छोड़कर वनको चले गये।

दिगम्बर मुनि होकर पार्श्वनाथजीने घोर तपस्या की। एक रोज वह काशीके पास एक वनमें ध्यानमग्न बैठे थे। उनके पूर्व-भवका विरोधी जीव संवरदेव उनपर आकर घोर उपसर्ग करने लगा। भ० पार्श्वनाथने यह सब पूर्ण शान्तिसे सह लिया। कुछ भी बुरा न माना। उसपर धरणेन्द्रने आकर अपना फण भगवानके सिरपर फैला दिया। किन्तु भगवान् तो स्वतः अजेय थे। बस, संवर यह देखकर दंग रह गया। आखिर वह भगवान्के चरणोंमें आगिरा।

पौष कृष्ण एकादशीको भ० पार्श्वनाथ साधु हुये थे और इसके चार महीने बाद चैत्र कृष्ण चतुर्दशीको उन्हें सर्वज्ञता प्राप्त होगई थी। यह संवरदेवके उपसर्गके बाद ही हुई थी। अब भगवान् सर्वज्ञ तीर्थंकर होगये थे।

तीर्थंकर पार्श्वनाथने देशमें चारों ओर घूमकर धर्मोपदेश दिया था। लोगोंमें सद्ज्ञानका प्रचार करना उनको इष्ट था और सचमुच उनके धर्मोपदेशसे उस समय एक उलटफेर होगया था। जो लोग अपने संप्रदायके मोहको न छोड़ सके, उन्होंने अपने मतमें ही ऐसे सुधार कर लिये जो उनके अनुयायियोंको भ० पार्श्वनाथके धर्ममें जानेसे रोक सके। आजीविक संप्रदाय इस ढंगका एक उदाहरण है।

ब्रह्मचर्य और अहिंसाकी उस समय आवश्यक्ता थी। भ० पार्श्वनाथने इनपर जोर दिया था। जनताको इससे बड़ा संतोष हुआ

और भगवान् 'जनप्रिय' होगये। उनका विहार कुरु, कौशल, काशी, अवंती, पुंड्र, मालवा, अंग, वंग, कलिंग, पांचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दशार्ण, कर्णाटक, कोंकण, मेदपाद, द्राविड़, काश्मीर, शाक, पल्लव आदि देशोंमें हुआ था।

भ० पार्श्वनाथके मुख्य शिष्य स्वयंभूगणधर थे और उनके अतिरिक्त नौ गणधर और थे। ग्यारह अंग चौदह पूर्वके धारी मुनियोंकी संख्या ३५० थी। दशहजार नौसौ शिक्षक मुनि थे और एक हजार चारसौ अवधिज्ञानी थे। इसी प्रकार एक हजार केवलज्ञानी थे। एक ही हजार विक्रियाऋद्धिको धारण करनेवाले थे। ७५० मनःपर्ययज्ञानी और ६०० वादी थे। इस तरह कुल १६००० मुनि उनके शिष्य थे। उन भगवानके संघमें सुलोचना आदि छत्तीस हजार आर्यिकायें थीं, एक लाख श्रावक थे और तीन लाख श्राविकायें थीं।

अंतमें भ० पार्श्वनाथ सम्मेदशिखर पर्वतपर आविराजे और वहांसे श्रावण शुक्ला सप्तमीको मोक्षधाम सिधार गये।

(७)

भगवान् महावीर ।

आजसे लगभग ढाई हजार वर्ष पहलेकी बात है। उत्तर भारतके पूर्वीय भागमें विदेह, वृजि, लिच्छवि, ज्ञात आदि क्षत्रियोंका एक क्षत्रिय राज्य था। वह 'वज्जियन राजसंघ' कहलाता था और उसका राज प्रबन्ध प्रजातंत्रात्मक शासन-तंत्रकी तरह होता था। तब सब लिच्छवि राजा चेटक उसके प्रधान थे और वैशाली उसकी राजधानी थी।

वैशालीके पास ही ज्ञातृवंशी क्षत्रियोंका निवास स्थान कुण्ड-ग्राम था। यह क्षत्रिय इक्ष्वाकुवंशकी शाखा रूप थे और तब इनके प्रमुख राजा सिद्धार्थ थे। राजा सिद्धार्थका विवाह राजा चेटककी पुत्री त्रिशला प्रियकारिणीके साथ हुआ था।

चैत्र शुक्ल त्रयोदशीके रोज ज्ञातृ वंशी क्षत्रियोंके ही नहीं समस्त लोगके भाग खुल गये। रानी त्रिशला प्रियकारिणीने उस रोज एक महा पुरुषको जन्म दिया। 'वह बालक महापुरुष है।' यह घोषणा उस समय हुई—प्राकृतिक घटनाओंने कर दी। सर्वत्र आनंद ही आनन्द छा गया। स्वर्ग लोकके देवोंको भी इसकी खबर लगी। वह भी वहांसे भागे आये और उन्होंने भी उस बाल महा पुरुषका जन्म-महोत्सव मनाया। इन्द्रने उसका नाम 'वीर' रक्खा और राजा सिद्धार्थने उन्हें 'वर्द्धमान' नामसे अलंकृत किया।

यही महा पुरुष जैनियोंके अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर

वर्द्धमान थे। इनकी आत्मा अपने एक पूर्व भवमें पुरुरवा नामक भील था। जैन मुनि सागरसेनने उसपर दया लाकर उसे अहिंसा आदि व्रत दे दिया। भीलकी भी अच्छी होनी थी। उसने इन व्रतोंका अच्छा पालन किया और वह इस पुण्य प्रभावसे मरकर स्वर्गमें देव हुआ। इसी प्रकार क्रमशः आत्मोन्नति करते हुए वह तीर्थंकर जैसे महान् पदको पहुंचा और महावीर हुआ। एक रज कण सूर्य बनकर चमका, धर्मके प्रतापसे कहां भीलकी पर्याय और कहां तीर्थंकर महावीर ?

समयकी कृपासे राजकुमार महावीर अब युवा होगये थे। वह जन्मसे ही विशेष ज्ञानी और महा बलवान थे। साधारण मनुष्योंसे वह कुछ अधिक थे। यह उनके पूर्वसंचित पुण्यका प्रभाव था। लोकहितकी भावनासे उनका हृदय भीजा रहता था। एक दफा उन्होंने सुना, एक मदमत्त हाथी अंकुशसे नहीं मानता है। वह नगरमें बड़ा उपद्रव मचा रहा है। महावीर तत्क्षण उठ खड़े हुये। वह दौड़े हुये गये—जरा भी भय या संकोच उन्होंने नहीं किया और बिगड़े हाथीको उन्होंने रस्सोंसे बांधकर महावतके हवाले कर दिया। जनताकी जानमें जान आई। सब ही महावीरकी प्रशंसा करने लगे। यह तो एक घटना है; ऐसे न जाने उन्होंने कितने कार्य किये होंगे। और तो और, उन्होंने लोकहितकी भावनासे प्रेरित होकर राज-पाट और ऐश-आराम सब कुछ छोड़ दिया। विवाहके बंधनोंमें वह पड़े नहीं। एक ब्रह्मचारी ही तो लोकका हित साधन कर सक्ता है।

महावीरने विवेक-नेत्रसे देखा, "मैं तीन–मति, श्रुति और अवधि–ज्ञानधारी हूं । आत्मज्ञानी हूं । फिर भी यह कैसी मूर्खता है कि मैंने इतना समय व्यर्थ ही खो दिया ! घर और यह सगे-सम्बंधी तो जेलखाना और उसके संतरी हैं । तोड़ डालो इस सब बंधनको और चलो आत्म स्वातंत्र्य पानेका अनुष्ठान करलो । इसीमें अपना और पराया भला है । " बस, इस विचारके साथ ही महावीरने मोह-ममताकी जंजीर तोड़ डाली । माता-पिता और सगे-सम्बंधियोंने बहुत कुछ समझाया; किन्तु कुछ भी कारगर न हुआ ।

मार्गशीर्ष शुक्ल दशमीके दिन महावीर घरको छोड़ गये । उन्होंने अपने तनपर एक लत्ता भी न रक्खा, पूरे दिगम्बर हो गये और महान योगका अनुष्ठान उन्होंने मांड़ दिया । साधु अवस्थामें उन्होंने पहले २ कोल्लगके एक ज्ञातृवंशीय राजा कुलनृपके यहां आहार लिया । और वहांसे वह सीधे जंगलकी ओर चले गये । योग और तपश्चरण ही उनका व्यवसाय बन गया । मौन और अकेले, वह 'सिद्धि' की तलाशमें निरत रहने लगे । वह महा अहिंसक वीर पक्के सत्याग्रही बन गये । प्रेम पूर्वक कष्ट संहनके मार्ग द्वारा उन्होंने लोक विजयकी ठान ली । उज्जैनके स्मशानमें वह ध्यान लगाये वैठे थे । एक रुद्र उधरसे निकला । उसे महावीरका यह ज्ञान-रूप सहन न हुआ । उन्हें सत्यसे डिगानेके लिये वह टूट पड़ा । सब ही तरहके पाशविक अत्याचार उसने महावीरपर किये । किन्तु वह सत्यसे न डिगे । प्रेमको उन्होंने न छोड़ा । रुद्र लज्जित

हुआ। उसने प्रभू वीरसे क्षमा याचना की और उनका सार्थक नाम 'महावीर' रखकर वह अपने रास्ते गया।

भगवान महावीर ऐसी ही कई परीक्षाओंमें सफल हुये। उन्होंने लगातार बारह वर्षका तप मांड दिया। जृम्भिकग्राम (आजकलका झिरिया गांव) को उन्होंने इस पुनीत कार्यके लिये चुन लिया। ऋजुकूला वहीं पासमें बहती थी। भगवान उसीके किनारे आसन जमाकर बैठ गये और तब उठे जब उन्हें श्रेष्ठ ज्ञानके दर्शन होगये। वह वैशाख शुक्ला १० मीकी तिथि थी कि जब वह वहां सर्वज्ञ हुये थे। लोकमें एक दफा फिर आनंदकी लहर दौड़ गई। मनुष्यों और देवोंने मिलकर ज्ञान महोत्सव मनाया और इन्द्रने भगवानके धर्मोपदेशके लिये अपूर्व विभूतिमय सभामंडप रच दिया; जिसके बारह कोठोंमें देव-देवाङ्गना, स्त्री-पुरुष और पशु-पक्षी सब हीको स्थान मिला। सब ही जीव वहां प्रेमसे बैठकर धर्मोपदेश सुनते थे, अपने जन्मगत वैरभावको वह भूल जाते थे।

तब म० गौतम बुद्ध अपने बौद्ध धर्मका जोरोंसे प्रचार कर रहे थे। उन्होंने जैन मुनिपदसे भ्रष्ट होकर अपना नया मत चलाया था और उनके महान् व्यक्तित्वके कारण उन्हें काफी अनुयायी मिल गये थे। किन्तु भ० महावीरके सम्मुख वह निस्तेज होगये। उल्टे उन्होंने स्वयं भगवान् महावीरकी सर्वज्ञताका उल्लेख किया। बौद्ध-शास्त्रोंमें महावीरस्वामीको 'निगन्ठनातपुत्त' लिखा है; जो उनका ज्ञातवंशी (नाथवंशी) जैन मुनि (निर्ग्रन्थ) होनेका द्योतक है। बौद्धशास्त्र कहते हैं कि भ० महावीर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, प्रकृष्टविद्वान,

श्रेष्ठ दातार और परम संयमी थे। जनता उन्हें पूज्य दृष्टिसे देखती थी।

अच्छा तो, महावीरस्वामी सर्वज्ञ हुये समोशरणमें विराजमान थे और उनके पास तीर्थंकर पार्श्वनाथकी शिष्यपरम्पराका साधु मक्खलिगोशाल मौजूद था। किन्तु फिर भी भगवान्का धर्मोपदेश न हुआ। मक्खलिगोशालको इसपर बड़ा आश्चर्य हुआ और वह क्रुद्ध होकर वीर-समोशरणसे बाहर चला गया। उसने अज्ञानमतका प्रचार करना शुरू कर दिया। वह 'आजीविक' संप्रदायका नेता बन गया।

इधर इन्द्रने देखा कि ज्ञातृपुत्र महावीरकी वाणी नहीं खिरी, तो वह मगधके प्रचण्ड ब्राह्मण विद्वान् इन्द्रभूति गौतमको भगवान्के निकट वादके मिससे ले आया। इन्द्रभूति वेदोंके माननेवाले और यज्ञोंमें समय बितानेवाले बहुश्रुत पुरोहित थे। भगवान्ने सबसे पहले इन्हींको धर्मोपदेश दिया; जिसको सुनकर इन्द्रभूतिके विवेकनेत्र खुल गये। वह भगवान्के चरणोंमें गिर पड़े और जिन दीक्षाकी उन्होंने याचना की। भगवान्ने शिष्यसमूह सहित इन्द्रभूतिको जैन धर्ममें दीक्षित कर लिया। और इस नये जैनीको उन्होंने अपना मुख्य शिष्य—प्रधान गणधर नियत किया। अपने इस कार्यसे भ० महावीरने इस बातको स्पष्ट कर दिया कि मेरे धर्मकी प्रभावना और वृद्धि अजैनोंको जैन धर्ममें दीक्षित करनेसे होगी। मेरे भक्तको इस प्रकारका उद्योग करना उचित है।" और सचमुच उन्होंने अगणित मुमुक्षुओंको अपने धर्ममें दीक्षित करके यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया कि नीचसे नीच और पापीसे पापी—रंक और सब हीके लिये महावीरका धर्म त्राणदाता है। चोर, डाकू, हत्यारे—अपराधी

भगवान्‌की शरणमें आकर साधु बन गये। सद्दालपुत्त जैसा कुम्हार, उपाली जैसा नाई, यमपालसा चाण्डाल सब ही भगवान्‌के शिष्य हुये और उन्होंने धर्मपालन खूब चावसे किया! इनके अतिरिक्त मगधका राजवंश, वैशालीके राजा चेटक और उनके कुटुम्बी, कौशाम्बीके राजा शतानीक, अंगदेशके राजा कुणिक, सिन्धुसौवीरके राजा उदयन्, उज्जैनके नृप चण्डप्रद्योत, हेमांगदेशके राजा जीवंधर प्रभृति क्षत्रिय-वीर भगवान्‌के शिष्य हुये थे और इनमेंसे बहुतेरे जैन मुनि होगये थे।

भगवान्‌ने धर्मप्रचार और लोककल्याणके लिये भारतके देशोंमें ही विहार करके संतोष धारण नहीं किया; बल्कि वह विदेशोंमें भी घूमे थे। अफ़गानिस्तान, ईरान और अरबमें उनके धर्मका खासा प्रचार हुआ था। ईरानका राजकुमार आर्द्रक भगवान्‌की शरणमें आया था और वह जैन मुनि होगया था।

इस प्रकार भगवान महावीरके धर्मका प्रचार दूर२ देशोंमें होगया था। इसका एक कारण था और वह उनके धर्मकी सरलता, वैज्ञानिकता और उदारतामें गर्भित है। महावीरस्वामीने यह स्पष्ट कहा कि जीव मात्र धर्म पालन करनेका अधिकारी है और मनुष्य मनुष्यमें कोई भेद नहीं है। चाहे पुरुष हो या स्त्री, आर्य हो या अनार्य, ब्राह्मण हो या शूद्र। प्रत्येक प्राणी धर्म नियमोंका पालन करके आत्मस्वातंत्र्य प्राप्त कर सक्ता है। उनमें परस्पर गोवत्स-वत् प्रेम होना चाहिये; क्योंकि गुण ही सर्वत्र माननीय हैं। उन्हींसे मुक्ति मिल सक्ती है। जाति न सर्वत्र और

सर्वथा माननीय है और न उससे निर्वाण नसीब होसक्ता है। इसलिये जाति और कुलका मद किसी भी प्राणीको न करना चाहिये। प्राणी मात्रको समदृष्टिसे देखना चाहिये और उनके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिये जैसा तुम चाहते हो कि अन्य लोग तुम्हारे साथ करें। 'जीओ और जीनेदो' इतना ही काफी नहीं है, बल्कि अन्योंको सुखी जीवन बितानेमें सहायता देना भ० महावीरके अनुयायीका कर्तव्य है। इस अनूठे साम्यवादके साथ ही भ० महावीरने जनताको यह संदेश भी दिया कि किसी पन्थ या सम्प्रदायमें परम्परागत रूढ़ियों और क्रियायोंको पालन करनेमें धर्म नहीं है। धर्म उनसे एक निराली वस्तु है। वह वास्तविक सत्य है। मोक्ष सांप्रदायिक क्रियायोंके पालनेसे नहीं मिल सक्ता, किंतु सत्य धर्मके स्वरूपमें आश्रय लेनेसे नसीब होता है।

भगवान् महावीरकी यह सीधी-सादी शिक्षाने लोगोंको सुखी बना दिया। राष्ट्रमें अहिंसा धर्मकी वृद्धि हुई और वह खूब समृद्धिशाली हुआ। भगवान् महावीर तीस वर्षतक बराबर घूम-घूमकर लोगोंका हित साधते रहे। आखिर वह बिहार प्रान्तके पावा नामक नगरके निकट एक तालाबके किनारे आ विराजे। वहां वह फिर योगलीन होगये। परिणामतः कार्तिकीय अमावस्याको उन्होंने ७२ वर्षकी अवस्थामें निर्वाणको पा लिया। वह पूरे आज़ाद होगये और हमेशाके लिये सच्चा सुख पागये। 'सिद्ध' परमात्माके रूपमें वह अनंतकाल तक पूजते रहेंगे!

भगवानका निर्वाण हुआ जानकर सब ही लोग पावाकी ओर

देव भी आये, राजा भी आये, सेठ साहूकार भी आये और जिन्होंने सुना वह सब ही आये। सबने मिलकर बड़ा उत्सव मनाया। लोगोंने कहा—'अब वास्तविक ज्ञानज्योति तो निर्वाण होगई है। इसलिये आओ, अब कृत्रिम दीप-ज्योति जलाकर चहुं ओर प्रकाश फैलानेका उद्योग करें। उन्होंने यही किया, खूब दीवे जलाये और यह उत्सव 'दिवाली' का त्यौहार बन गया।'

पावापुरमें अब भी भगवानके पवित्र निर्वाण स्थानके दर्शन करने लाखों आदमी जाते हैं; किंतु उनका सच्चा दर्शन तो उनकी शिक्षा पर अमल करना है।
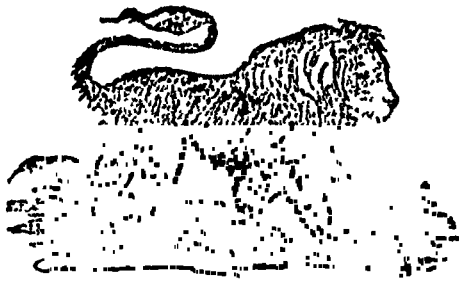
(८)

मौर्यसम्राट् और उनके कार्य ।

आजसे लगभग सवादो हजार वर्ष पहले मगध देशका नन्द नामक राजवंश भारतमें प्रधान था। तब नन्द राजाओंके समान प्रतापी और धनवान राजा भारतमें और कोई न था। इन राजाओंमें अधिकांश जैन धर्मानुयायी थे और उनमें सम्राट् नन्दवर्द्धन मुख्य थे। इन्होंने करीब २ सारे उत्तर भारतको जीत लिया था और कलिंगमें भी अपना झंडा फहराया था।' किंतु इनके बाद नंदवंशकी श्री वृद्धिको काठसा मार गया। बहु विवाहके दुष्परिणामने इस वंशका एक प्रकारसे अन्त ही कर दिया। बात यह हुई कि महानन्द नामके नन्दवंशी नृपकी एक रानी शूद्रा थी और उसका एक बलवान पुत्र था। इस राजाकी अन्य क्षत्रिय रानियोंके पुत्र कम उम्र और उतने बलवान न थे। फलतः अपने पिताकी आंख मींचते ही शूद्राजात नंद पुत्र महापद्म राजा बन बैठा। शेष राजकुमारोंको अपने प्राणोंकी रक्षा करनेकी पड़ी। वे सब मगधको छोड़कर अन्य सुरक्षित स्थानोंको चले गये।

इन राजकुमारोंमें एक राजकुमार चन्द्रगुप्त नामका था। यह तो पता नहीं चलता कि वह नन्द राजाका पुत्र था; किंतु यह स्पष्ट है कि उसका घनिष्ट सम्बन्ध नंदवंशसे था। हिंदू पुराणोंमें चन्द्रगुप्तका उल्लेख ' नन्देन्दु ' आदि विशेषणों द्वारा हुआ मिलता है। वह इस क्षत्रिय राजवंशका भूषण था और आगे चलकर वही विशाल मौर्य साम्राज्यका संस्थापक हुआ था। कोई २ विद्वान

चन्द्रगुप्तकी मांको एक नाइन बतलानेकी घृष्टता करते हैं; परन्तु वह उन लोगोंका कोरा भ्रम है। प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रंथोंसे उनका क्षत्री होना प्रमाणित है। 'मुद्रा राक्षस' नामक अर्वाचीन नाटक ग्रन्थमें ही केवल उनका उल्लेख 'वृषल' नामसे हुआ है; किंतु 'वृषल' के अर्थ नीचके अतिरिक्त धर्मात्मा भी है। (वृषं–सुकृतं लातीति वृषलः।) इसलिये चन्द्रगुप्तको शूद्राजात बतलाना ठीक नहीं है।

जिस समय महापद्मने मगधके सिंहासनको हथिया लिया था, उस समय चन्द्रगुप्त लड़के ही थे। उनकी माता मौर्य्याख्य देशके मोरिय क्षत्रियोंकी कन्या थीं। वह अपने इस लालको लेकर उसकी ननिहाल पहुंची। मोरिय क्षत्रियोंने सहर्ष उनका स्वागत किया। और वे उनकी रक्षामें लग गये। क्षत्रियोंके लिये शरणागतको अभय करनेसे बढ़कर खुशीकी और क्या बात होसक्ती है? उसपर चन्द्रगुप्त तो खास उन्हींके अंश थे।

राजकुमार चन्द्रगुप्त ननिहालमें ही पढ़े-लिखे और बड़े हुये। अभी पूरे जवान भी न हो पाये थे कि वे सर्व विद्याओंमें पारङ्गत विद्वान और शस्त्रादि कलाओंमें निपुण होगये। उनकी विद्या और प्रतिभाकी प्रसिद्धि चहुं ओर हो गई। मगधके राजासे भी यह बात छिपी न रही। * इस खबरने उसे चिंतासागरमें डाल दिया।

*महापरिनिव्वानसुत्त, महावंश व दिव्यावदान नामक बौद्ध ग्रंथोंमें मौर्योंको क्षत्रिय लिखा है। 'दिव्यावदान' में चन्द्रगुप्तके पुत्र बिंदुसारका उल्लेख 'क्षत्रियोमूर्धाभिषिक्तः' रूपमें हुआ है। (देखो 'इंडियन हिस्टोरीकल क्वारटर्ली,' भा० ४ पृ० ७४२) 'तिलोय पण्णत्ति,' 'राजावलीकथे' नामक जैन ग्रन्थोंमें भी इन्हें क्षत्री लिखा है।

वह कोई ऐसा उपाय ढूंढ़ने लगा कि जिससे राजकुमार चंद्रगुप्त और उसके सहायक मोरिय क्षत्रियोंको नष्ट कर सके । अत्याचारपर तुला हुआ मनुष्य न्याय-अन्याय नहीं देखता । मगधके राजाने भी यही किया । उसने एक झूठा बहाना बनाकर मौर्याख्य देशपर आक्रमण कर दिया । मोरिय क्षत्री बड़े संकटमें पड़े और उनके कई प्रमुख नेता इस युद्धमें काम आये ।

इस संकट-संकुल अवसरपर चन्द्रगुप्त अपनी मातासे विदा होकर पश्चिमी भारतकी ओर चला गया । उन दिनों अर्थात् ३२६ ई०. पूर्वमें भारतके उत्तर-पश्चिमीय सीमा प्रांतपर यूनान देशके भुवन-विख्यात सिकंदर महानका आक्रमण हो चुका था और उसने सीमा प्रांत एवं पन्जाबके कुछ हिस्सेपर अधिकार जमा लिया था । यूनानी सेनाकी चाल-ढाल और रहन-सहन भारतीयोंसे विलक्षण था । चंद्रगुप्तने यूनानी सेनामें भरती होजाना ठीक समझा और वह उसमें एक सैनिक बनकर रहने लगे । उन्होंने यूनानी सैन्यकी व्यवस्था और नियमोंका खासा परिचय पा लिया । किन्तु वह प्रतापी भारतीय वीर अधिक समय तक यूनानियोंकी गुलामीमें न रह सका । एक दिन बातों ही बातोंमें सिकंदर महान और चंद्रगुप्तकी अनबन होगई । चंद्रगुप्त चुपचाप यवन शिविर छोड़कर मगधकी ओर चले गये । सौभाग्यवश चंद्रगुप्तकी भेट चाणक्य नामक एक उग्र स्वभावी ब्राह्मणसे होगई; जिसका अपमान नन्द राजाने किया था और वह उस अपमानका बदला चुकानेकी धुनमें व्यग्र था । दोनोंकी मन-चेती हुई । वे परस्पर एक दूसरेके सहायक बन गये । जैन शास्त्रोंमें

चाणक्यको एक चणक नामक जैनी ब्राह्मणका पुत्र लिखा है और वह अपने जीवनमें जैन मुनि होगया था, यह भी कहा है।

चंद्रगुप्तको मगधराज महापद्मको राज्यच्युत करनेकी उत्कट लालसा थी और उधर चाणक्य भी मगध राज्यको तहस-नहस करना चाहता था। उसपर महापद्म स्वयं बड़ा दुराचारी था। उसका यह असद् व्यवहार उनका भारी सहायक हुआ। प्रजा नंद राजासे क्रुद्ध होगई। उसने चंद्रगुप्तका साथ दिया और अन्य राजपुत्रोंके सहयोगसे चन्द्रगुप्तपर धावा बोल दिया। घमासान युद्ध हुआ; परन्तु चाणक्यकी कुटिल राजनीति अंतमें सफल हुई। नंद राजाकी पराजय हुई और चंद्रगुप्तको मगधका राजसिंहासन मिल गया।

मगधका राजा हो जानेपर चन्द्रगुप्तने अपने परोपकारी चाणक्यको मंत्री पद दिया; परन्तु चाणक्यने प्रधान मंत्रीत्वका भार नंदराजाके भूतपूर्व जैनधर्मानुयायी मंत्री राक्षसके सुपूर्द करनेकी सलाह दी। चंद्रगुप्तने ऐसा ही किया। राक्षस प्रधान मंत्री हुआ। इसके बाद चद्रगुप्तने दूसरा मुख्य कार्य जो किया, वह एक नये राजवंशकी स्थापना करना था। यद्यपि चंद्रगुप्तका जन्मसम्बंध नंद वंशसे था; किंतु उसने अपने वंशका नया ही नाम रक्खा। इसमें दो मुख्य कारण थे। पहले तो नंदराजा उस समय काफी बदनाम हो चुके थे। दूसरे उसकी प्राण रक्षा और जीवनको समुन्नत बनानेका श्रेय उसके ननिहालके मोरिय क्षत्रियोंको प्राप्त था। वे लोग चंद्रगुप्तके लिये तबाह होगये। उसपर पितृ वंशके उपरांत मातृवंशसे स्नेह होना स्वाभाविक है। उस समय मोरिय अथवा मौर्य्य नाम उस

देशकी अपेक्षा प्रसिद्ध था। वह कोई जातिवाचक नाम न था। तब मौर्य क्षत्रिय थे तो मौर्य ब्राह्मण भी मिलते थे। इन्हीं सब बातोंको लक्ष्य करके चंद्रगुप्तने अपने राजवंशका नाम 'मौर्य्य' रक्खा। *

इस प्रकार चंद्रगुप्त मौर्यवंशका संस्थापक और पहला राजा हुआ। सारे उत्तरीय भारतपर राज्य करनेका अवसर तो उसे राज-सिंहासन पर बैठते ही मिल गया; किंतु पंजाब और दक्षिण भारतका अधिकारी वह अपने बाहुबलसे बादमें हुआ। किंचित् पंजाब और अफघानिस्तानमें सिकंदर महानके गवर्नर अधिकार जमाये हुये थे। इनमें सिल्यूकस नाइकेटर प्रमुख था। उसकी आकांक्षा तमाम भारतको अपने आधीन करलेनेकी थी और इस नियतसे उसने भारतपर आक्रमण भी किया; किंतु चंद्रगुप्तकी वीर-सेनाके सम्मुख उसकी एक न चली! वह यहां आया तो चौवेसे छब्बे बननेकी नीयतसे परन्तु लौटा दुबे ही बनकर। उसे चन्द्रगुप्तसे संधि करनी पड़ी और उसके अनुसार अफघानिस्तान चन्द्रगुप्तके अधिकारमें आगया। सिल्यूक्सने अपनी कन्याका विवाह भी चंद्रगुप्तके साथ कर दिया। चंद्रगुप्तने बदलेमें कई सौ हाथी सिल्यूक्सको भेट किये। अब चंद्रगुप्तका राज्य उत्तरीय भारतमें अफघानिस्तानतक विस्तृत होगया था।

---

* कोई विद्वान होते हैं कि चन्द्रगुप्त अपनी माताकी अपेक्षा मौर्य कहलाता था। संभव है, उनका यह कथन ठीक हो; क्योंकि प्राचीनकालमें माताकी अपेक्षा भी पुत्रकी प्रख्याति होती थी। किन्तु चन्द्रगुप्तकी माता मुरा नामक नाइन बतलाना बिल्कुल गलत है। उनकी माता मोरिय क्षत्रियोंकी कन्या थीं।

दक्षिण भारतके सम्बन्धमें यह ठीक पता नहीं लगता कि उसको चंद्रगुप्तने ही विजय किया था अथवा उसके पौत्र अशोकने। जो हो, अशोकके समय दक्षिण भारत मौर्य साम्राज्यके अंतर्गत था। हां, जैन साक्षीसे यह स्पष्ट है कि चंद्रगुप्तने ही दक्षिण भारत पर मौर्य साम्राज्यका झंडा फहरा दिया था। इस प्रकार प्रायः समग्र भारतके सम्राट् होनेका सौभाग्य चंद्रगुप्तको अपने निजी पराक्रम और प्रतापसे मिला था।

उस जमानेमें जब कि न रेल या मोटर जैसी तेज सवारी यहां थी और न तार या बेतारका तारके समान विद्युद्वेगसे समाचार पहुंचानेवाले साधन सुलभ थे, इतने विस्तृत राज्यका समुचित प्रबंध कर लेना एक बड़ी कौतुकभरी बात है; किंतु चंद्रगुप्त और चाणक्य-की राजनीतिने देशमें ऐसा शासन प्रबंध किया था कि वह इस जमानेके राजाओंके लिए भी अनूठा आदर्श है। चाणाक्यने पहले ही एक राजाका कर्तव्य, निम्नप्रकार निर्दिष्ट करके चंद्रगुप्तको तदनुकूल दीर्घकाल तक राजभोग करनेके योग्य बना दिया था।

"जो राजा पढ़ लिखकर प्राणी मात्रके हितमें तत्पर रहता है और प्रजाका शासन तथा शिक्षण करता है, वह चिरकाल तक पृथ्वीका उपभोग करता है।" (कोटिल्य अर्थशास्त्र पृ० ६)

प्रजावत्सल चंद्रगुप्तने अपने राज्यको कई भागोंमें बांट दिया था। प्रत्येक भागपर शासन करनेका अधिकार राजवंशके लोगोंको ही था; किंतु वे सब केन्द्रीय सरकार अर्थात् स्वयं सम्राट्के आधीन थे। इसके साथ प्रत्येक पदके अलग२ विभाग नियत कर दिये गये थे; जिनका

प्रबंध एक २ मंत्रि मण्डल द्वारा होता था। यहांतक कि मनुष्य-गणना, क्रयविक्रय, विदेशियोंके आदर-सत्कार, जलसेना आदिके भी स्वतंत्र विभाग थे। इन विभागोंके द्वारा शासन प्रबंध अच्छे ढंगपर होता था। लोगोंमें सच्चाई और धार्मिक भावोंकी उन्नति हुई थी। सबको राम राज्यके सुख प्राप्त थे। मनुष्योंको ही नहीं, प्रत्युत पशुओंको भी ज्यादासे ज्यादा सुख और कमसे कम दुःख पहुंचानेका ध्यान रक्खा गया था। जो कोई व्यक्ति पशुओंको स्वयं मारता या मरवाता अथवा स्वयं चुराता या चुरवाता, तो उसको मृत्यु दंड दिये जानेका नियम था। सारांशतः चंद्रगुप्तके राज्यमें प्राणिमात्रके हितका ध्यान रक्खा गया था, यह भी उसकी विशेषता है।

सम्राट् चंद्रगुप्तका सम्बंध विदेशोंसे भी था। यूनान देशसे मेगस्थनीज नामक राजदूत उनके दरबारमें आकर रहा था। उसने तत्कालीन भारतका खासा विवरण लिखा है, जिससे मौर्य साम्राज्यके आदर्श और अनुकरणीय शासन प्रबंधका अच्छा पता चलता है। भला बताइये, जिसके राज प्रबंधकी सराहना विदेशी भी करें उस आर्य सम्राट्का राजकौशल क्यों न अनुपम हो! चंद्रगुप्तका नाम, उसके पराक्रम और आदर्श शासन-प्रबन्धके लिये इतिहासमें सदा स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित रहेगा।

कहते हैं कि सम्राट् चंद्रगुप्तने सन् ३२७ ई० पूर्वसे लगभग पच्चीस वर्षतक शासन किया था। तत्पश्चात् अपने पुत्र बिन्दुसारको मगधके राजसिंहासनपर बैठाकर वे जैन मुनि होगये थे। चंद्रगुप्तका संसर्ग जैनधर्मसे बाल्यकालसे ही रहा प्रतीत होता है; क्योंकि नंद

वंशमें जैनधर्मकी मान्यता थी ही और उधर मौर्याख्य देशमें भी भगवान महावीरका धर्मोपदेश विशेष कार्यकारी हुआ था। उसके दो प्रमुख गणधर इस ही देशसे आये थे। उसपर, उनका जैनमुनि होजाना, इस बातका द्योतक है कि वह राज्यावस्थासे ही जैन धर्मका पालन करते थे। इस तरह चंद्रगुप्त बचपनसे ही जैनधर्मके स्वाधीन और सर्व सुखकारी आलोकमें रहे थे। श्रुतकेवली श्रमण भद्रबाहु उनके धर्मगुरु थे। मेगास्थनीजने भी लिखा है कि चंद्रगुप्त श्रमण गुरुओंकी उपासना करता था और उनको आहारदान देता था। जैन मुनियोंकी अहिंसामई शिक्षाका ही यह परिणाम प्रतीत होता है कि चंद्रगुप्तका राज्य प्राणी हितके लिए दयामय था।

जिस समय श्रमणपति भद्रबाहु मगधमें घोर दुर्भिक्षकी संभावनासे दक्षिण भारतकी ओर जाने लगे थे, उस समय चंद्रगुप्त भी राज्य छोड़कर उनके साथ हो लिया था। दुर्भिक्षसे बचनेके लिए चन्द्रगुप्तके राज्यमें अन्य नियमोंके साथ एक यह नियम भी था कि 'जिस देशमें फसल अच्छी हो, राजा उसमें अपनी प्रजाको लेकर चला जावे।' मालूम होता है कि इस नियमके अनुकूल ही चंद्रगुप्त श्री भद्रबाहुके साथ हो लिये और मुनि होकर आत्मकल्याण करनेमें निरत होगए! प्राचीन जैन ग्रन्थ 'तिलोयपण्णत्ति'में चन्द्रगुप्तको ही इस कालमें सर्व अन्तिम मुकुटबद्ध राजा लिखा है जिसने जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की थी।

इस प्रकार चन्द्रगुप्त जैन मुनि होकर भद्रबाहुके साथ दक्षिण भारत पहुंचे थे और वह श्रवणबेलगोल नामक स्थानपर ठहर गये

थे। यहांपर एक छोटीसी पहाड़ीपर गुरु शिष्यने तपस्या की थी और उनका समाधिमरण भी यहीं हुआ था।

चंद्रगुप्तके बाद मौर्य सामाज्यके अधिकारी विन्दुसार हुये थे। इनके विषयमें कुछ विशेष परिचय नहीं मिलता है; किंतु इनकी 'अमित्रघात' नामक उपाधिसे मालूम होता है कि वह भी अपने पिताके समान वीर-योद्धा थे। जैन इतिहास 'राजावलीकथे' में उनका नाम सिंहसेन लिखा है; जो संभवतः उनके 'अमित्रघात' विरुदके कारण हो। इस ग्रंथमें लिखा है कि बिन्दुसार अपने पुत्र भास्कर (अशोक) के साथ श्रवणबेलगुलकी ओर भ्रमण करने गया था।

विंदूसारके उपरांत मगध साम्राज्यकी वागडोर अशोकवर्द्धनके हाथोंमें आई। अपने पूर्वजोंके समान अशोक भी अपने जीवनके आरम्भमें जैनधर्मानुयायी था और उसने अपने पितामहके समाधि-स्थान श्रवणबेलगोलमें कई एक स्मारक चिह्न बनवाये थे। किंतु अपने शेष जीवनमें अशोक सांप्रदायिकताके मोह-जालसे दूर होगया था। उसने लोक कल्याणके लिये सर्वमान्य शिक्षायें प्रचलित की थीं। तो भी उसकी शिक्षाओंमें जैन प्रभाव अंत तक दृष्टि पड़ता है। किन्हीं विद्वानोंका कहना है कि अशोकने लगभग अपने राज्यके २२ वें वर्षमें बौद्ध धर्मको ग्रहण कर लिया था; किन्तु इस कथनकी पुष्टि केवल अर्वाचीन बौद्ध ग्रंथोंसे होती है, जिनके कथन-पर सहसा विश्वासकर लेनेको जी नहीं चाहता। हां, अशोकके शिलालेखोंसे यह पता जरूर चलता है कि उसका ध्यान बौद्धधर्मकी

ओर विशेष रीतिसे आकृष्ट रहा था। सचमुच अशोक एक उदार राजा था और संसारमें वह अपने ढंगका अकेला है।

जहां एक ओर चन्द्रगुप्तकी विशेषता उसके राजकौशल और रणचातुर्यमें थी; वहां अशोक अपने धर्म प्रचारके लिए प्रसिद्ध था। वह एक सम्राट्की अपेक्षा एक धर्माचार्य अधिक था। शायद अपने सारे जीवनमें उसने केवल एक लड़ाई लड़ी और वह कलिङ्गकी लड़ाई थी। इस संग्राममें जो अगणित मनुष्योंकी जानें गईं, उससे अशोकके दिलको गहरी चोट पहुंची। अशोकने जीव हिंसा न करनेका दृढ़ निश्चय कर लिया। इस निश्चयको उसने अपने जीवनभर निभाया और खूब निभाया। भारतमें उसने अहिंसा धर्मका प्रचार अपने राजकर्मचारियों द्वारा करवाया। बड़ी २ शिलाओं और स्तंभोंपर उसने अपनी आज्ञायें अङ्कित करादीं; जो आजतक मौजूद हैं। लोगोंके लिये औषधालय, धर्मशाला आदि बनवाईं, पशुओंके लिए पिंजरापोल खुलवाये। इतना ही क्यों, यूनान, मिश्र आदि विदेशोंमें भी उसने अपने कर्मचारी अहिंसाका संदेश देकर भेजे। सारांशतः अशोकने भूमण्डलपर अहिंसाका झण्डा ऊंचा करनेमें कोई कसर बाकी न छोड़ी और इसमें उसे सफलता भी मिली थी। लोगोंमें धर्मकी बढ़वारी हुई और वे प्रेमपूर्वक रहकर सादा और उन्नत जीवन आनन्दसे बिताने लगे।

किंतु अशोकके बाद मौर्य साम्राज्यके उत्तराधिकारी इस योग्य न हुये कि वे इस विशाल साम्राज्यको समुचित बनाये रखते। अशोकके बाद ही संभवतः मौर्य साम्राज्य दो भागोंमें विभक्त हो

थे । यहांपर एक छोटीसी पहाड़ीपर गुरु शिष्यने तपस्या की थी और उनका समाधिमरण भी यहीं हुआ था ।

चंद्रगुप्तके बाद मौर्य सामाज्यके अधिकारी विन्दुसार हुये थे । इनके विषयमें कुछ विशेष परिचय नहीं मिलता है; किंतु इनकी 'अमित्रघात' नामक उपाधिसे मालम होता है कि वह भी अपने पिताके समान वीर-योद्धा थे । जैन इतिहास 'राजावलीकथे' में उनका नाम सिंहसेन लिखा है; जो संभवतः उनके 'अमित्रघात' विरुदके कारण हो । इस ग्रंथमें लिखा है कि बिन्दुसार अपने पुत्र भास्कर (अशोक) के साथ श्रवणबेलगुलकी ओर भ्रमण करने गया था ।

विंदूसारके उपरांत मगध साम्राज्यकी वागडोर अशोकवर्द्धनके हाथोंमें आई । अपने पूर्वजोंके समान अशोक भी अपने जीवनके आरम्भमें जैनधर्मानुयायी था और उसने अपने पितामहके समाधि-स्थान श्रवणबेलगोलमें कई एक स्मारक चिह्न बनवाये थे । किंतु अपने शेष जीवनमें अशोक सांप्रदायिकताके मोह-जालसे दूर होगया था । उसने लोक कल्याणके लिये सर्वमान्य शिक्षायें प्रचलित कीं थीं । तो भी उसकी शिक्षाओंमें जैन प्रभाव अंत तक दृष्टि पड़ता है । किन्हीं विद्वानोंका कहना है कि अशोकने लगभग अपने राज्यके २२ वें वर्षमें बौद्ध धर्मको ग्रहण कर लिया था; किन्तु इस कथनकी पुष्टि केवल अर्वाचीन बौद्ध ग्रंथोंसे होती है, जिनके कथन-पर सहसा विश्वासकर लेनेको जी नहीं चाहता । हां, अशोकके शिलालेखोंसे यह पता जरूर चलता है कि उसका ध्यान बौद्धधर्मकी

ओर विशेष रीतिसे आकृष्ट रहा था । सचमुच अशोक एक उदार राजा था और संसारमें वह अपने ढंगका अकेला है ।

जहां एक ओर चन्द्रगुप्तकी विशेषता उसके राजकौशल और रणचातुर्यमें थी; वहां अशोक अपने धर्म प्रचारके लिए प्रसिद्ध था। वह एक सम्राट्की अपेक्षा एक धर्माचार्य अधिक था। शायद अपने सारे जीवनमें उसने केवल एक लड़ाई लड़ी और वह कलिङ्गकी लड़ाई थी । इस संग्राममें जो अगणित मनुष्योंकी जानें गईं, उससे अशोकके दिलको गहरी चोट पहुंची । अशोकने जीव हिंसा न करनेका दृढ़ निश्चय कर लिया । इस निश्चयको उसने अपने जीवनभर निभाया और खूब निभाया । भारतमें उसने अहिंसा धर्मका प्रचार अपने राजकर्मचारियों द्वारा करवाया । बड़ी २ शिलाओं और स्तंभोंपर उसने अपनी आज्ञायें अङ्कित करादीं; जो आजतक मौजूद हैं । लोगोंके लिये औषधालय, धर्मशाला आदि बनवाईं, पशुओंके लिए पिंजरापोल खुलवाये । इतना ही क्यों, यूनान, मिश्र आदि विदेशोंमें भी उसने अपने कर्मचारी अहिंसाका संदेश देकर भेजे । सारांशतः अशोकने भूमण्डलपर अहिंसाका झण्डा ऊंचा करनेमें कोई कसर बाकी न छोड़ी और इसमें उसे सफलता भी मिली थी। लोगोंमें धर्मकी बढ़वारी हुई और वे प्रेमपूर्वक रहकर सादा और उन्नत जीवन आनन्दसे बिताने लगे ।

किंतु अशोकके बाद मौर्य साम्राज्यके उत्तराधिकारी इस योग्य न हुये कि वे इस विशाल साम्राज्यको समुचित बनाये रखते । अशोकके बाद ही संभवतः मौर्य साम्राज्य दो भागोंमें विभक्त हो

गया था। उत्तर पूर्वीय भागपर उसका पुत्र दशरथ अधिकार प्राप्त करके बैठ गया था और पश्चिमीय भागपर सम्प्रति अधिकारी हुआ था। संप्रति अपने पितामहके समान जैन धर्मानुयायी था। उसने जैनधर्म प्रभावनाके लिये अनेक कार्य किये थे। आंध्र-द्रमिल आदि देशोंमें उसने जैनोपदेशक भेजकर जैनधर्मका प्रचार किया था। यही क्यों, उसने भारतके बाहर अफगानिस्तान, ईरान, अरब आदि देशोंमें भी जैन मुनियोंके विहार और धर्मोपदेशका सराहनीय प्रबंध किया था। अशोककी तरह उसने भी गिरिलिपियां खुदवाई थीं, ऐसा किन्हीं विद्वानोंका मत है।

किंतु दशरथ और संप्रतिके वाद मौर्य राजवंश निस्तेज होगया। फलतः उनका पुष्पमित्र नामक एक सेनापति स्वयं राजा बन बैठा और सारे देशमें उसका सिक्का जम गया। मौर्य साम्राज्यका अन्त होगया। उनका अंत हुआ जरूर परंन्तु उसके दो चमकते हुये सम्राटोंके अश्रुतपूर्व कार्योंके कारण वह सदा ही अमर है। चन्द्रगुप्त और अशोकके नाम और कामसे भारतीय आर्यों और जैन धर्मका मस्तक संसारमें ऊँचा है। उनकी सानीके राजा जरा विदेशोंमें ढूंढकर बताइये तो? वे भारतके प्राण थे—रत्न थे! धन्य होगा वह दिन जब भारत फिर ऐसे नर-रत्नोंसे चमत्कृत होगा।

(९)

सम्राट् ऐल खारवेल।

पुराने जमानेमें ओड़ीसा नामक भारतीय प्रांत 'कलिंगदेश' के नामसे प्रसिद्ध था। भगवान ऋषभदेवके एक पुत्र वहांके शासनाधिकारी थे। जिस समय ऋषभदेवजी कलिंगमें धर्मोपदेश देने पहुंचे तो वह राजपाट छोड़कर मुनि होगये। उनके बाद एक दीर्घकाल तक कौशलका राजवंश ही कलिंग पर शासन करता रहा।

एक समय कौशलमें हरिवंशी दक्ष नामका राजा था। उसके मनोहरी नामकी सुन्दर कन्या थी। नीच दक्षने उसे अपनी पत्नी बना लिया। राजाके इस दुष्कर्मसे रुष्ट होकर उसकी रानी इला और पुत्र ऐलेय दूसरे देशको चले गये। ऐलेयने अपने बाहुबलसे बङ्गाल और मध्य भारतको जीत लिया। माहिष्मती नगरीकी नर्मदा तटपर उसने स्थापना की। उपरांत उसीकी संततिमें राजा अभिचंद्र हुआ। उसने विंध्याचल पर्वतके पृष्ट भागमें चेदि राष्ट्रकी स्थापना की।

सम्राट् ऐल खारवेलके पूर्वज चेदिराष्ट्र अथवा दक्षिण कौशलसे आकर कलिंग पर राज्य करने लगे। उनका 'ऐल' विरुद उन्हें उत्तर कौशलके ऐलेय राजासे सम्बन्धित करता है।

अभी ऐल खारवेल सोलह वर्षके ही थे कि उनके पिताका स्वर्गवास होगया। खारवेल युवराजपदसे कलिंग पर शासन करने लगे। प्राचीनकालमें पच्चीस वर्षकी अवस्थामें राज्याभिषेक होता था। बस, पच्चीस वर्षकी उम्रमें खारवेलका भी राज्याभिषेक होगया। अब वह राजा होगये।

राजा खारवेलने कलिंगकी प्राचीन राजधानी तोसलिको ही अपनी राजधानी बनाया था और उस समय उनकी प्रजाकी संख्या पेंतीस लाख थी । राजसिंहासनपर बैठते ही खारवेलने राजधानीकी मरम्मत कराई । परकोटा, नगरद्वार आदि इमारतें नई बनवाई और एक बड़ेसे तालावका भी जीर्णोद्धार कराया, जिससे प्रजाको पानीकी तकलीफ न रहे और सिंचाईका काम भी बखूबी चल निकले। प्रजाकी मनस्तुष्टिके लिए उन्होंने अन्य कार्य भी किये थे—कई राज्योद्यान लगवाये थे। सारांशतः अपने इन कार्योंसे खारवेलने अपनी प्रजाके दिलपर अधिकार जमा लिया था। यह एक प्रजा-हितैषी राजा थे ।

खारवेलने अपने राज्यके दूसरे वर्षमें 'दिग्विजय' के लिए प्रयाण किया । इस दिग्विजयमें उनका उद्देश्य अपने बाद विक्रमको प्रगट करनेके साथ ही धर्मकी वृद्धि करना था। बस, सबसे पहले उन्होंने पश्चिमीय भारतपर आक्रमण किया । वहां आंध्रवंशी शतकर्णि प्रथमका प्रबल राज्य था । खारवेलने इसकी कुछ भी परवाह न की । इस आक्रमणके फलरूप मुशिक क्षत्रियोंकी राजधानीपर खार-वेलने अधिकार कर लिया । और काश्यप क्षत्रियोंको अभय बना दिया । इस दिग्विजयके हर्षोपलक्षमें खारवेलने तोसलिमें खूब आनं-दोत्सव मनाये थे। उनके राज्यका तीसरा वर्ष इन्हीं बातोंमें वीता था।

चौथे वर्षमें खारवेल फिर अपनी सेना लेकर पश्चिम भारतपर जा धमके। अबकी राष्ट्रिक और भोजक क्षत्रियोंसे उन्होंने लोहा लिया। इन क्षत्रिय राजाओंके छत्र और भिंगार छीनकर उन्होंने नष्ट कर

दिये और उन्हें मुकुटहीन कर दिया। इस प्रकार जीतका डंका बजाते हुये वह कलिंगको लौट आये।

कलिंग पहुंचकर खारवेलने प्रजाहितके कई कार्य किये। उन्होंने 'तनसुलिय' नामक स्थानमे एक नहर निकाल कर अपनी राजधानीको सरसब्ज बना दिया। इस नहरसे प्रजाको भी सिंचाईका सुभीता हुआ था। अपने राज्यके छठे वर्षमें उन्होंने दीन-दुःखी जीवोंकी अनेक प्रकार सहायता की थी और पौर एवं जानपद संस्थाओंको अगणित अधिकार देकर प्रसन्न किया था। उपरांत दक्षिण भारतके पांड्य आदि देशोंके राजाओंने स्वतः खारवेलके लिये 'भेट' भेजकर मैत्री स्थापित करली थी। और शातकर्णि भी हीनबल होगया था। इस प्रकार कलिंगके आसपास पश्चिमीय और दक्षिण भारतके लोगोंपर खारवेलने अपना सिक्का लगा लिया था।

अब उन्हें उत्तर भारतको विजय करनेकी सुध आई। उस समय मौर्य राज्य-संहारक पुष्पमित्र मगधका शासनाधिकारी था। वीर श्रावक खारवेलके लिये उसे परास्त करना एक धार्मिक कर्तव्य था। बस, यह सेना लेकर मगधकी ओर चल पड़े। किंतु वह मगध तक नहीं पहुंच पाये और गोरथगिरि तक अधिकार जमाकर वापस कलिंगको लौट आये। खारवेलके इस आक्रमणकी खबर पाकर कहते हैं कि यूनानका डिमित्रियस नामक बादशाह जिसने मथुरा, पंचाल और साकेतपर अधिकार कर लिया था, और जो पढ़नेको घेरे हुये था, अपनी सेना लेकर पीछे हट गया। फिर जो आक्रमण खारवेलने मगधपर किया वह पश्चिम भारतसे होकर उत्त-

रकी ओरसे किया। इससे खारवेलका भाव विदेशी जुएको देशपरसे हटा देनेका झलकता है।

मगधके पहले आक्रमणके समय खारवेलकी अवस्था केवल ६२ वर्षकी थी और उनकी 'वजिरघरवाली' रानीसे इसी समय अर्थात् सन् १७६ ई० पूर्वमें उन्हें एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई थी। इनकी दूसरी रानीका नाम सिंधुड़ा था। यह रानियां वज्रभूमिके क्षत्रियोंकी राजकन्यायें थीं और इन्हें जैन धर्ममें दृढ़ श्रद्धा थी।

खारवेलने अपने राज्यके नवे वर्षमें खूब दान-पुण्य किया था। ब्राह्मणों और अन्य लोगोंको 'किमिच्छक' दान दिया था। अर्हत भगवानका अभिषेक करके उत्सव मनाया था और अडतालीस लाख चांदीके सिक्के खर्च करके उन्होंने प्राची नदीके दोनों तटोंपर एक "महाविजय" नामक भव्य और विशाल प्रासाद बनवाया था।

इस प्रकार धर्मध्यान और जनरंजनमें एक वर्ष व्यतीत करके खारवेलने अपने राज्यके दशवें वर्षमें 'भारतवर्ष' Upper India पर धावा बोल दिया। इस आक्रमणमें खारवेलने किस राजाको परास्त किया, यह तो प्रगट नहीं; किन्तु यह स्पष्ट है कि वह अपने उद्देश्यमें सफल हुए थे।

संग्रामसे लौटकर ग्यारहवें वर्षमें खारवेलने पहले हुये एक दुष्ट राजा द्वारा निर्मित राजसिंहासनको नष्ट करवा डाला। कहते हैं, इस राजाने जैनधर्मकी अप्रभावना की थी। धर्मवत्सल खारवेल भला ऐसे दुष्ट पुरुषका स्मारक कैसे अपने सामने रहने देते!

अपने राज्यकालके बारहवें वर्षमें खारवेल सेना लेकर उत्तरा-प्रथपर जा चढ़े थे। वहांके राजाओंमें इस आक्रमणसे भय और आतङ्क छा गया था। इनको बिजय करते हुये खारवेल मगधमें जा निकले थे। हिमालयकी तलहटी २ वह ठीक मगधकी राजधानीके सामने जा धमके! इस सफरमें उन्हें बड़ी२ नदियोंको पार करनेकी कठिनाईका सामना नहीं करना पड़ा था। केवल गंगानदीको पार करके वह पाटलिपुत्रमें दाखिल होगये थे। नन्दकालके प्रसिद्ध राज-प्रासाद 'सुगङ्ग' को उन्होंने जा घेरा था। शुङ्गनृप पुष्यमित्र इस-समय वृद्ध होगये थे। उनका पुत्र बृहस्पतिमित्र मगधका प्रान्तीय शासक था। खारवेलने उसे अपने सन्मुख नतमस्तक होनेको बाध्य कर दिया। मगधके राजकोषसे उन्होंने बहुमूल्य रत्नादि लिये तथा 'कलिङ्गजिन' की वह प्रसिद्ध मूर्ति ली, जिसे नन्दराज कालिङ्गसे लेआये थे। इस प्रकार मगध–विजयके साथ उनकी मनोकामना पूरी होगई और वह कलिङ्गको लौट गये। वहां उन्होंने धर्मोत्सव रचाया!

खारवेलने सारे भारतपर विजय प्राप्त की थी। पाण्ड्यदेशके राजासे लेकर उत्तरापथ तथा मगधसे लेकर महाराष्ट्र देशतक उनकी विजय-वैजयंती फहराई थी। उस समय यह सार्वभौम सम्राट् होगये थे और इनका प्रताप एक वार चन्द्रगुप्त और अशोकका सा चमका था। खास बात तो उनके सैन्यसंचालन चातुर्यकी है। सचमुच वह भारतीय नैपोलियन हैं। खारवेल प्रजावत्सल सम्राट् थे। उन्होंने 'पौर' और 'जानपद' संस्थाओंको स्थापित कर प्रजाकी सम्मतिके अनुकूल शासन किया था। 'पौर' संस्थाका सम्बन्ध राजधानी और नगरोंके शासनसे

था। 'जानपद' संस्था ग्रामोंका शासन करनेके लिये नियुक्त थी। इस प्रकार शासन भार जनताके कंधोंपर भी लदा हुआ था; यही कारण है कि कलिङ्गसे बाहर लड़ाइयोंमें लगे रहनेपर भी खारवेलके शासन प्रबन्धमें कुछ भी गड़बड़ न होने पाई थी। बल्कि उनके शासन-कालमें कलिङ्गकी समृद्धिकी वृद्धि ही हुई थी।

खारवेलने कलिङ्गमें अनेक राजमहल, देवमंदिर आदि बनवाकर वास्तुविद्याकी भी उन्नति की थी। दक्ष कारीगरोंने उनके लिये पच्चीकारी और नक्कासीके स्तंभ बनाकर ललितकलाको उत्तेजना दी थी। सचमुच जब २ खारवेल दिग्विजय करके लौटते थे, तब २ वह अपने राज्यमें प्रजाहित और धर्मसंबंधके अनेक अच्छे२ काम करते थे। प्रजाके मन बहलावके लिये संगीत और बाजोंका भी प्रबंध उन्होंने किया था।

खारवेलका राष्ट्रीय जीवन जिस प्रकार उन्नत और विशाल है, उसी प्रकार उनका धार्मिक जीवन भी था। जब वह सारे भारतमें अपना सिक्का जमा चुके और सारे देशमें उनके प्रतापकी धाक जम गई, तब वह विशेष रीतिसे धर्म कार्य करनेके लिये झुक पड़े थे। यह उनके राज्यके तेरहवें वर्षकी बात है। खारवेल कुमारी पर्वतपरके अर्हत् मंदिरमें जा विराजे और वहां भक्ति-भावना भाने और व्रत-उपवास करनेमें लीन होगए। फलतः वह क्षीण-संसृत होगए। भव भ्रमणको नष्ट करनेके निकट पहुंच गये। भेदविज्ञान—जीवन और पुद्गलकी भिन्नताका ज्ञान उन्हें होगया। उन्होंने जैन मुनियोंके लिये गुफायें और मंदिरादि बनवाये। कुमारी पर्वत तब जैनधर्मका केन्द्र बन गया। भला, जिस पर्वतसे तीर्थंकर महावीर धर्मामृतकी वर्षा करचुके थे,

उसपर धर्मवत्सल ऋषियोंका समागम और ज्ञानगुदड़ी क्यों न हो !

इसी पर्वतपर खारवेलने जैनधर्मका महा धर्मानुष्ठान किया था। उस सम्मेलनमें भारतवर्ष भरके जैन यति, ऋषि और पंडितगण सम्मिलित हुये थे। खूब ही धर्मप्रभावना हुई थी। जैन ऋषियोंको धर्म प्रचारका खासा अवसर मिला था। इसी समय जैनागमके पुनरुत्थानका भी उद्योग हुआ था, क्योंकि अंग ग्रंथ मौर्यकालमें कलिङ्गदेश और अन्य देशोंमें लुप्त होगये थे। खारवेलका यही अंतिम कार्य था। इसके लिये अखिल जैन संघने उन्हें 'भिक्षुराज' और 'धर्मराज' की उपाधियोंसे विभूषित किया और उनके भव्य जीवन-चरितको पाषाणशिला पर लिख दिया गया। यह शिलालेख आज भी ओडीसा प्रान्तके खण्डगिरि—उदयगिरि पर्वतपरकी हाथीगुफामें मौजूद है और जैन इतिहासके लिये बड़े महत्वकी चीज है।

शिलालेखमें सन् १७० ई० पूर्व तक खारवेलकी जीवन घटनाओंका उल्लेख है। इसके बाद ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे खारवेलके अंतिम जीवनका पता चले। उस समय खारवेलकी आयु करीब ३७ वर्षकी थी। अतः वह सन् १७० ई० पूर्वसे दस-बीस वर्ष और जीवित रहे होंगे। उनका स्वर्गवास सन् १५२ ई० पूर्वके लगभग हुआ होगा। उनके बाद उनका पुत्र कुदेयश्री खरमहामेघवाहन शासनाधिकारी हुआ था।

खारवेल अपने शौर्य और धर्मलगनमें अद्वितीय थे। उन्होंने इस जैन उक्तिको अपने आदर्शसे चरितार्थ कर दिया है कि:—

"जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा।"

(१०)

धर्म और पन्थ।

धर्ममें अन्तरदर्शन होता है। इसलिये वह मनुष्यको सन्मार्ग पर लगाता है। पन्थमें बाह्यदर्शन है, इसलिये वह बाहरके वातावरणके साथ सम्बन्धित है और मनुष्यको अन्तरदर्शनसे रोकता है। धर्म गुणजीवी और गुणावलम्बी होनेसे आत्माके गुणोंपर अवलंबित है। और पन्थ, रूपजीवी और रूपावलम्बी होनेसे बाह्य रूप रंगपर अवलंबित है।

पहलेसे एकता और अभेदभाव पैदा होता है और समानताकी तरंगें उठती हैं, और दूसरेसे विषमता बढ़ती है। पहलेसे मनुष्य सांसारिक भेद भूलकर अभेदकी ओर झुकता है और दूसरेके दुःखमें अपना सुख भूल जाता है। और पन्थमें मनुष्यपर दूसरेका दुःख कुछ असर नहीं करता, परन्तु अपने सुखमें ही मग्न रहता है।

धर्ममें नम्रता होनेसे उसके अधीन मनुष्य दीन और सरल होता जाता है। चाहे जितनी गुण-समृद्धि और धन-समृद्धि हो तो भी वह अपनेको सबसे छोटा मानता है। और पन्थ इससे विरुद्ध है। उसमें गुण या वैभव न होते हुए भी मनुष्य अपनेको सबसे बड़ा मानता है और दूसरेसे अपनेको बड़ा कहलवानेका प्रयत्न करता है। पन्थगामी मनुष्य सच्चे जीवनकी जांच, मनुष्यके गुणोंकी अनन्तताका ज्ञान और अपनी दीनताका भाव न होनेसे अपनी लघुताको नहीं पहचान सकता।

धर्ममें सत्यकी दृष्टि होनेसे धर्मात्मा पुरुषमें धीरज और दूसरेका पहलू सत्यतासे विचारनेकी उदारता होती है। पन्थमें यह बात

नहीं है। इसमें सत्याभास होनेसे वह अपने पक्षको ही सत्यपूर्ण मानकर दूसरेका पहलू विचारनेकी और उसको सहनेकी परवाह नहीं करता।

धर्ममें अपना दोषदर्शन और दूसरेके गुणदर्शनकी दृष्टि मुख्य होती है; पन्थमें उससे बिल्कुल विरुद्ध है। पन्थगामी मनुष्य दूसरेके गुणकी अपेक्षा दोष अधिक देखता है, और अपने दोषकी अपेक्षा गुण अधिक बतलानेका प्रयत्न करता है। और उसे अपना कोई दोष दिखलाई ही नहीं देता। धर्मात्मा मनुष्य अपने अन्दर और आसपास प्रभुका दर्शन करता है। इससे पाप करते समय उसे प्रभुका भय लगता है, और शर्म आती है। पन्थगामी मनुष्यको प्रभु शत्रुंजयपर, काशीमें, मक्का, मदीना और जेरुसलममें होनेकी श्रद्धा होनेसे पाप करते समय अपनेको प्रभुसे अलग मानता है। इसलिये उसको न किसीका भय और न किसीकी शर्म होती है।

धर्म मनुष्यको रातदिन भेदसे अभेदकी ओर लेजाता है। पन्थ इससे उल्टी तरफ चलता है। धर्ममें सभी सांसारिक झगड़े नष्ट होजाते हैं। पन्थमें धर्मके नामसे, धर्मकी भावनापर झगड़ा उत्पन्न होता है, और झगड़े इत्यादिकी रक्षामें धर्म लुप्त होजाता है।

धर्म और पन्थका अंतर समझनेके लिये पानीका दृष्टांत उचित होगा। पन्थ समुद्र, नदी और कुएके पानी जैसा नहीं है, परन्तु घरपर पड़े हुये वर्तनके पानीके समान विशेषकर ब्राह्मणके वर्तनके पानीके समान है। धर्म आकाशसे बरसते हुये पानीके समान है। इसके लिये सब स्थल समान हैं। आकाशके पानीका स्वाद एक जगह और तथा दूसरी जगह और नहीं होता। उसके रूप रंगमें भी भेद

न होनेसे सब उसे हजम कर सकते हैं। पन्थ ब्राह्मणके वर्तनके पानीके समान है। अतः दूसरे सब पानी उसके लिये अस्पृश्य हैं। उसको अपना ही स्वाद, अपना ही रूप, चाहे जैसा हो-पसंद आता है। पन्थगामी प्राणांतके समय भी अपने वर्तनके पानीको छोड़कर दूसरे पानीको हाथ नहीं लगायेगा।

पन्थ धर्मसे पैदा हुआ है। तौ भी, अपनेको धर्मप्रचारक मानते हुये भी हमेशा वह धर्मका घात करता है। जैसे जीवित रक्त और मांससे उत्पन्न नाखून बढ़ जाता है, तो रक्त और मांसको ही काटता है। इसलिये बढ़े हुये नाखूनको काटनेमें ही शरीरकी कुशल है। इसी तरह धर्मसे अलग पड़ा हुआ पन्थ, फिर चाहे वह धर्मसे ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो, जब नाश हो जायगा तब ही मनुष्यको सुख प्राप्त होगा। यहांपर एक प्रश्न जरूर उपस्थित होगा कि धर्म और पंथके बीचमें कुछ मेल है या नहीं? यदि है; तो कैसे? इसका उत्तर सरल है। जैसे जीवित नाखूनको कोई नहीं काटता, क्योंकि उसे काटनेसे दुःख होता है, वैसे ही पंथके अंदर यदि धर्मका जीवन हो तो उसे नष्ट करनेसे भारी निहा हानि है। क्योंकि उसमें प्राकृतिक और विशेषता पूर्ण कई भेद होते हुये भी वहां क्लेश नहीं, प्रत्युत प्रेम होता है, अभिमान नहीं नम्रता होती है, शत्रुभाव नहीं मित्रता होती है, क्रोध नहीं शांति होती है।

पंथ थे, हैं और होंगे। परन्तु उसमें इतना ही परिवर्तन करना होता है कि उससे अलग पड़ी हुई धर्मरूपी आत्माको पुनः उसमें स्थित कर दिया जावे। अतः हम कोई भी पंथगामी

हों, परन्तु धर्मके तत्वानुसार हमें पंथमें कायम रहना चाहिये।

अहिंसाके लिये हिंसा और सत्यके लिये असत्यका व्यवहार नहीं करना चाहिये। पंथमें धर्मका प्राण फूंकनेके लिये सत्याग्रही दृष्टि होनी चाहिये। इस दृष्टिवालेके लक्षण निम्नलिखित हैं:—

(१) जो हम मानते और करते हैं उसका हमें सम्पूर्ण ज्ञान होना चाहिये और उसपर हमारी इतनी श्रद्धा और नियंत्रण होना चाहिये कि दूसरेको सरलता और दृढ़तासे समझा सकें।

(२) अपनी मान्यता दूसरेको समझाते समय जरा भी आवेश और क्रोध न आये और ऐसे समय अपनी कमजोरी निःसंकोच भावसे मानले।

(३) अपनी बात समझानेका धैर्य और दूसरेकी दृष्टि समझनेकी तत्परता और उदारता होनी चाहिये। इतना ही नहीं लेकिन अपने कमजोर और असत्य पक्षको त्यागनेमें और सत्यमार्ग स्वीकार करनेमें प्रसन्नता होनी चाहिये।

(४) कोई भी सत्य देश, काल और संस्कारसे परिमित नहीं होता इसलिये सभी पक्ष देखने और विचारनेकी और जहां २ खण्ड सत्य नजर आये उसके समन्वय करनेकी वृत्ति होनी चाहिये।

पन्थमें धर्म न होनेसे वह राष्ट्र और समाजका घात करता है। जब राष्ट्र और समाजको एकत्रित होनेका सुअवसर प्राप्त होता है तब वहां निष्प्राण पन्थ बाधा डालता है। सारे संसारमें मानव समाजको सङ्गठित करनेके उद्देश्यसे धर्मजनित पंथोंकी उत्पत्ति हुई थी। सब ही पन्थ धर्मप्रचारका दावा करते हैं, लेकिन पन्थोंकी प्रवृत्तिसे विपरीत ही परिणाम निकला है। पन्थका अर्थ दूसरा कुछ नहीं, केवल

धर्मके नामसे रक्षित अपना मिथ्या अभिमान व मानसिक संकुचितता है।

राष्ट्र कल्याण और समाज सेवामें यदि रुकावट डालनेवाली कोई चीज है तो वह पन्थका जहरसे भरा हुआ संस्कार ही है।

एक दिगंबर श्रीमान् श्वेताम्बर–दिगम्बरके झगड़ेमें अपने पक्षसे विरुद्ध, सत्य वर्ताव करें तो दिगंबर पंथवाले उसको धर्मसे भ्रष्ट मानेंगे। हिन्दू-धर्म मंदिरके पास मुसलमान बाजा बजावें तब एक सच्चा मुसलमान हिन्दुओंका दिल खामखाह न दुखानेके लिये, उनसे ऐसा वर्ताव न करनेकी प्रार्थना करे तो वे सभी उसको कहेंगे कि वह पागल होगया है, काफिर बन गया है, धर्म भ्रष्ट है। एक आर्यसमाजी सच्ची भावनासे मूर्ति पूजाको मानने लगे तो आर्यसमाज उसकी कैसी खबर लेगा? इसी तरहसे पन्थ, सत्य और एकतामें रुकावट डालता है। हम स्वयं अपने २ पन्थमय संस्कारोंसे सत्य और एकता दूर कर रहे हैं। इसी कारणसे पन्थाभिमानी बड़े २ धर्मगुरु और पण्डित कभी एक दूसरेसे नहीं मिलते; जब कि सामान्य जनसमूह परस्पर एक दूसरेसे सरलतासे मिलता है।

जब पन्थगामी धर्मगुरु, जो कल्याणका दावा करते हैं, परस्पर एक दूसरेसे सन्मानसे वर्ताव करें, साथ मिलकर सरलतासे, प्रेमसे, काम करें; विवेक बुद्धिसे वैमनस्य दूर करें; आपसके झगड़े उदारतासे निबटानेकी कोशिश करें, तब पन्थमें धर्मका प्रवेश हुआ मानना चाहिये।

हमारा वर्तमान कर्तव्य पन्थमें धर्म प्राण डालनेका है। यदि ऐसा असम्भव हो तो पन्थको मिटा डालना चाहिये। धर्म-रहित पन्थसे दूर रहना, यह मानवहितकी दृष्टिसे लाभदायक है।

(११)

वीर संघकी विदुषियां !

भगवान महावीरका संघ (१) मुनि, (२) आर्यिका, (३) श्रावक, (४) श्राविका, इन चार अंगोंमें विभक्त था। अनेक आर्य महिलायें संसारसे विरक्त होकर आर्यिका संघमें शामिल होगई थीं। इनमें प्रमुख साध्वी चन्दना थीं। वह वैशालीके प्रमुख राजा चेटककी पुत्री थी। श्राविकाओंमें भी राजा चेटककी ही दूसरी पुत्री महारानी चेलनी मुख्य थी। सच बात तो यह है कि महावीरसंघमें राजा चेटकके वंशके लोगोंका गहरा हाथ था। उनके सिंहभद्र आदि कई लड़के जिनेन्द्र भगवानके अनन्य भक्त थे और प्रियकारिणी त्रिशला, चन्दना, चेलनी, ज्येष्टा आदि पुत्रियां जैनधर्म प्रभावक थीं। प्रियकारिणी त्रिशलाने तो स्वयं भगवान महावीरको जन्म दिया था। वह महिलारत्न थीं। देवेन्द्रने उनके दर्शन करके अपनेको कृतार्थ माना था। वह दया, शील, संयम, प्रेम आदि गुणोंकी साक्षात् मूर्ति थीं और परम विदुषी थीं! विद्या और ज्ञानमें उनकी समता कोई न रखता था। जब शिशु महावीर उनके गर्भमें थे, तब देवसेविकाओंने उनसे कुछ प्रश्न किये थे। त्रिशला देवीने जो उनका उत्तर दिया, उससे उनकी ज्ञान-गरिमा प्रकट होती है। एक देव-दासीने पूछा कि—'देवी! मनुष्योंमें ऊंच और नीच कौन है?' रानी त्रिशला जानती थीं कि ऊंच और नीचपन किसी मनुष्यकी जाति और कुल पर निर्भर नहीं है। बस, उन्होंने उत्तरमें यह नहीं कहाकि ब्राह्मण ऊंचे और शूद्र नीच हैं; बल्कि उन्होंने बताया कि जो मनुष्य इन्द्रि-

योंके साथर कर्मरूपी दुर्धर शत्रुको मार भगाते हैं वे उच्च हैं और जो रत्नत्रय धर्मको पाकर उसे छोड़ देते हैं, वे नीच हैं। इसी प्रकारके और भी प्रश्नोत्तर हुये थे।

सचमुच रानी त्रिशलाने तीर्थंकरकी जननी होनेका सौभाग्य प्राप्त किया था। यही उनके उन्नत और विशाल व्यक्तित्वको प्रकट करनेकी साक्षी है। जब राजकुमार महावीर घर छोड़कर साधु हुये तो उन्होंने उनके मार्गमें अडङ्गा न डाला। बल्कि वह भी धर्माराधनमें निरत होगई और अपने भाग्यको सराहने लगीं। महान् माताका ही पुत्र महान् होता है। तबके भारतको उनपर बड़ा गर्व था।

सती चंदना रानी त्रिशलाकी छोटी बहन थी। उन बेचारीको बचपनसे ही दुःख झेलना पड़ा था। अभी उनका व्याह नहीं हुआ था। एक रोज उद्यानमें वह झूला झूल रहीं थीं। एक विद्याधर उधरसे निकला, वह चंदनाको देखते ही उसपर मोहित होगया और उसे बलात् विमानमें बैठाकर लेगया। बेबस चन्दना रोती रह गई! किंतु भाग्यने उनका साथ दिया। उस विद्याधरकी पत्नी वहां आ पहुंची और उसने चंदनाको बन्धनमुक्त करा दिया। किंतु फिर भी बदमाश विद्याधरने उसे वैशाली न पहुँचाया बल्कि एक घने जंगलमें छोड़ दिया। वहां भीलोंके सरदारने उसे पकड़वा मंगवाया और एक व्यापारीके हाथ बेच दिया। व्यापारीने उसे ले जाकर कौशाम्बीके बाजारमें बेचनेके लिये खड़ा कर दिया! पूर्वसंचित अशुभ कर्मोंका फल जानकर चन्दना ये सब आपत्तियां चुपचाप झेल रही थीं।

कौशाम्बीमें एक सेठने उसका मूल्य चुकाकर चन्दनाको अपने घर ले जा रक्खा। वह उसे पुत्रीके समान प्यार करता था। सेठका यह प्यार उसकी सेठानीको बड़ा खटका। चन्दनासे उसे डाह हुई। आखिर उसे और कुछ न सूझा-उसने चन्दनाके हाथ-पांवमें हथकड़ी-बेड़ियां डालकर तहखानेमें बन्द कर दिया। सेठ परेशान हुये, उसे ढूंढ़ने लगे। एक दिन-दो दिन करते २ पूरा एक पक्ष होगया। किन्तु चन्दनाको वह न पासके। चन्दना भी भूख-प्यासकी मारी मरणोन्मुख होरही थी। भाग्यको भी उसकी इस बेबसी पर दया आगई। सेठको चन्दनाके बंदीगृहका पता चल गया। उन्होंने चट उसे बाहर निकाला और उसकी हथकड़ी-बेड़ियां खोलने लगे। एक बेड़ीका बन्द नहीं टूटा। सेठजी उसके लिये लुहारको बुलाने गये। उधर श्रमणोत्तम भगवान महावीर आहारकी वेलापर चंदनाके सन्मुख आखड़े हुये। चंदना अकचका गई। सामने सूपमें कुछ दाने रक्खे थे। उन्हींको उठाकर उसने पतितपावन प्रभू महावीरको पड़गाह लिया। उसकी अनन्य भक्ति सफल हुई। प्रभूने उसके हाथों वहीं आहार ग्रहण कर लिया। तीर्थंकर भगवानका सानंद आहार होचुकनेके उपलक्षमें देवोंने आकर चंदनाके निकट आनंदोत्सव मनाया। सारी कौशांबीमें चंदनाके सौभाग्य और अद्भुत दानकी चर्चा हो निकली—सुदामाके चावलोंकी पोटलीके सदृश चंदनाके दान कर्मको प्रत्यक्ष देखकर लोग आश्चर्यचकित और प्रसन्नवदन होगये। कौशांबीकी राज-रानीने भी यह समाचार सुने। उन्होंने चंदनाको अपने यहां बुला भेजा। स्वप्नमें भी जिसे पानेका

ख्याल नहीं था, वह निधि राज-रानीको मिल गई। कौशाम्बीकी राजरानी चंदनाकी वहिन मृगावती थी। बहन, भटकी वहिनको पाकर फूली न समाई। चंदनाकी आपत्तिका ऐसा सुन्दर और भव्य परिणाम निकला। यह आपत्तियोंसे घवडाई नहीं, तो दैव भी उसके अनुकूल होगया। कर्मण्य व्यक्तिके लिये कुछ भी असंभव नहीं।

किन्तु चंदना बहुत दिनों तक अपनी वहनके पास न रह सकी। उसे संसारके प्रपंचका सीधा-सच्चा ज्ञान होगया था। उसने जान लिया था कि इसके मोहजालमें फंसकर प्राणी स्वाधीन और सुखी नहीं होसक्ता है। बस, जव उसने सुना कि भ० महावीर सर्वज्ञ होगये हैं और उनका धर्मोपदेश होने लगा है, तो वह उनकी शरणमें पहुंचकर साध्वी होगई। वह निर्मल चारित्र पालने और दुर्द्धर तप तपने लगी। आत्मज्ञानकी अपूर्व ज्योति उसके नेत्रोंमें चमकने लगी और वह शीघ्र ही आर्यिका संघकी प्रमुखा होगई। आखिर अपना और पराया भला और कल्याण वहुत वर्षोंतक करके वह स्वर्गधाम सिधार गई। सचमुच चंदना स्वर्ग चली गई; किन्तु उनका साहस—उनका संयम और उनका ज्ञान उन्हें अमर ही बना चुका है।

चन्दनाके उपदेशसे उसकी वहन ज्येष्ठा भी साध्वी होगई थी। ज्येष्ठाका भी व्याह नहीं हो पाया था। उसकी याचना गांधारके राजा सात्यकिने की थी; किन्तु कारणवश वह स्वीकृत न हुई। इस घटनासे सात्यकि और ज्येष्ठाके मन विरक्तसे होगये और आखिर वे महावीरसंघमें आ मिले। सात्यकि मुनि होगये, ज्येष्ठा साध्वी हो

गई। प्राचीन भारतकी स्वाधीनवृत्ति और स्वात्मसम्मानका यह एक नमूना है। उस समय स्त्रियां भी अपने कार्योंके लिये स्वाधीन थीं।

एक रोज बहुतसे बादल आये और पानी बरसाने लगे। आर्यिका ज्येष्ठा संघस्थानपर पहुंच न पाई। आंधी-पानीसे बचनेके लिये वह अनायास पासकी एक गुफामें चली गई और अपने कपड़े सुखाने लगी। उसी क्षण विजलीकी एक चमकने गुफामें उजाला कर दिया। ज्येष्ठाने देखा सात्यकि उससे दुर नहीं खड़े हैं। उसका सांस रुकसा गया। सात्यकि भी अपनेको भूल गये। विरह-विछोह उस समय पूरे जोरसे उमड़ पड़ा। कामने सात्यकिको अंधा बना दिया। चिर संचित शीलरत्नको सात्यकि और चंदनाने बेमोल गंवा दिया। क्षणिक इन्द्रियावेशमें वह धर्मसे हाथ धोबैठे। जब उन्हें विवेक आया, तो बड़े पछताये। अपनासा मुंह लटकाये दोनों अपने २ रास्ते चले गये।

सात्यकिने जाकर अपनी पाप कथा आचार्य महाराजसे कह सुनाई और ज्येष्ठाने संघकी प्रमुख स्थविरासे अपने दुष्कर्मका रोना रोया। सात्यकि और ज्येष्ठाको समुचित प्रायश्चित्त दिया गया और उनकी शुद्धि करके उन्हें फिरसे मुनि और आर्यिका बना दिया गया। ज्येष्ठाके जीवनकी यह घटना जैनधर्मकी उदारवृत्तिका एक उदाहरण है। सचमुच जैन शास्त्र कहते हैं:—

"महापापप्रकर्ताऽपि प्राणी श्रीजैनधर्मतः।
भवेत् त्रैलोक्यसंपूज्यो धर्मात्कि भो परं शुभम्॥"

अर्थात्—"घोर पापको करनेवाला प्राणी भी जैनधर्म धारण

करनेसे तीन लोकमें पूज्य होजाता है। धर्मसे बढ़कर और क्या शुभ वस्तु होसक्ती है ?" सात्यकि और ज्येष्ठाके पाप-मलको उनके हृदयगत धर्मभावने धो दिया ! वे पूर्ववत् धर्म—प्रभावना करनेमें लग गये।

जिस प्रकार आर्यिका संघमें राजा चेटककी पुत्रियोंको प्रधान पद मिला हुआ था, उसी प्रकार श्राविकाओंमें भी महारानी चेलनी मुख्य स्थान लिये हुये थीं। वह भी राजा चेटककी पुत्री थी। एक दफा राजा चेटकका युद्ध मगधके राजा श्रेणिक बिम्बसारसे हुआ था। वैशालीके राजशिविरमें चेटकका राजपरिकर भी साथ था और तब श्री जिन चैत्यालयका उसके साथ होना अनिवार्य था। राजा चेटक चैत्यालयमें पूजा कर रहे थे। श्रेणिक भी वहां जा निकले उन्होंने चेलनीके चित्रको वहां देखा और उस रमणीरत्नको पालेनेके लिये वह उत्कण्ठित होउठे। तब युद्ध बंद करके संधि करली गई। चेटक वैशालीको लौट गये।

इसके बाद श्रेणिकने अपने पुत्र राजकुमार अभयकुमारको वैशाली भेजा और वह छलसे प्रसन्न-वदना चेलनीको मगधकी राजधानी राजगृह ले आया। चेलनी स्वतः श्रेणिकको अपना हृदय-सम्राट् बना चुकी थी। दोनोंकी मनचेती हुई। चेलनी मगधकी राजरानी होगई। किन्तु उसपर भी उसे सुख न मिला। यह जैनधर्मकी गाढ़ श्रद्धालु थी और श्रेणिककी श्रद्धा कुछ समयसे बौद्ध गुरुओंमें होगई थी। श्रेणिक चाहता था कि चेलनी उनकी भक्ति करे, किंतु यह करना उसके लिये असंभव था। वह उदास रहने लगी।

श्रेणिकसे यह न देखा गया। उसने चेलनीको धर्मके मामलेमें पूरी स्वतंत्रता देदी। चेलनी बड़ी खुश हुई और जैन यतियोंकी भक्तिमें लीन होगई।

बौद्ध गुरुओंने जब यह बात सुनी तो दौड़े हुये श्रेणिकके पास आये। श्रेणिकने उनसे क्षमायाचना करके यही आग्रह किया कि वह चेलनीकी मनस्तुष्टि करके उसे बौद्ध धर्ममें दीक्षित करलें। बौद्धगुरु इस कार्यके लिये तुल पड़े। चेलनीकी धर्मपरीक्षाका समय आया। वह भी जैनधर्मके गहन तत्त्वोंसे वाकिफ थी और बौद्धोंके क्षणिकवादकी निस्सारताको अच्छी तरह जानती थी। बौद्ध गुरुओंकी उसके सामने एक न चली। वह खिसयानेसे रह गये। श्रेणिकको भी अपने गुरुओंकी यह हीनता चाट गई!

एक रोज जब वह शिकारसे लौट रहे थे, तो उन्होंने देखा, एक जैन मुनि खड़े हैं। चेलनीको छकानेके लिए उन्हें एक नटखट सूझी। धर्मविद्रोहके तूफानमें वह हृदयको भुला बैठे। एक मरा हुआ सांप मुनिके गलेमें उन्होंने डाल दिया और जाकर अपनी बहादुरीका समाचार चेलनीसे कह सुनाया। चेलनी यह सुनकर बड़ी परेशान हुई। उसने कहा कि यदि वह साधु जैन मुनि हैं तो उन्होंने वह मरा हुआ सांप अपने गलेमेंसे नहीं निकाला होगा। वह उसी हालतमें सत्याग्रह किये वहां मौजूद होंगे। श्रेणिकको यह सुनकर आश्चर्य हुआ और वह चेलनीके साथ वहां चले गये। सचमुच चेलनीका कहना अक्षरशः सत्य निकला। श्रेणिक यह देखकर दङ्ग रह गये। सांपके कलेवरके कारण कीड़ों चीटियां

मुनिराजके शरीरसे चिपटी हुईं खून चूस रहीं थीं; किंतु वह फिर भी अडोल और ध्यानलीन थे। चेलनीने सावधानीसे सांप और चीटियोंको अलग कर दिया और मुनिराजके शरीरमें चंदनका लेप कर दिया। अब मुनिराजने ध्यान भंग करके राजा-रानीको समान रूपमें धर्मलाभ दिया। श्रेणिक इस उदारताको देखकर दांतों तले उंगली दबा गये। मुनिराजके पैरों पड़कर उन्होंने क्षमा याचना की। किंतु क्षमाके भंडार मुनिराज तो वैर विरोध जानते ही न थे। उन्होंने करुणाभावमें श्रेणिकको तत्वका बोध कराया और उसे जैन-धर्ममें दीक्षित कर लिया।

जैनी होकर श्रेणिक और चेलनीने धर्मप्रभावनाके अनेक कार्य किये, लाखों प्राणियोंको अभयदान दिया और लाखोंको ही जैन धर्मकी शांतिमई शरणमें सान्त्वना दिलाई। किंतु उनका अंत समय दुःखांत होगया। यह उनके पूर्वकृत अशुभ कर्मका परिणाम था। श्रेणिकके पुत्र कुणिक अजातशत्रुने चिढ़कर अपने पिताको बन्दी बना दिया; जिससे चेलनीको बहुत दुःख हुआ। श्रेणिक इस बन्दीगृहमें अधिक समय जीवित न रहे और उनके देहावसानके बाद चेलनी भी राजगृहमें न रही! वह महावीर संघमें जाकर संमिलित होगई और आत्म—कल्याण करने लगी।

इस प्रकार संक्षेपमें महावीर संघकी कुछ विदुषी-रमणियोंकी यह जीवन-झलक है और यह भारतवासियोंके जीवन-पथके अंधेरेको दूर करनेके लिये अपूर्व प्रकाशका काम देगी।

(१२)

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य ।

" मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी ।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोस्तु मङ्गलं ॥ "

दिगम्बर जैन सम्प्रदायमें भगवान् कुन्दकुन्दस्वामीका आसन बहुत ऊंचा है । जैन मंदिरोंमें प्रतिदिन उपरोक्त श्लोकको दुहराकर भक्तजन उनकी गिनती गणधर गौतमके बाद करते हैं । सचमुच दिगम्बर सम्प्रदायका मूलाधार इन आचार्यप्रवरके महान् व्यक्तित्वमें स्थित है । यदि कुन्दकुन्दाचार्य न होते तो शायद ही दिगम्बर सम्प्रदाय कभी उन्नतशील होता ।

अन्य प्रसिद्ध दिगम्बर आचार्योंकी तरह भगवत कुन्दकुन्दका सम्बन्ध दक्षिण भारतसे है । दक्षिणभारतमें ईस्वी पहली शताब्दिके लगभग पिदथनाडु नामका एक प्रदेश था । उस प्रदेशमें कुरुमरई नामक एक गांव था । गांव कुरुमरईमें एक धनी वैश्य रहते थे । उनका नाम करमुण्ड था । सेठ करमुण्डकी पत्नी श्रीमती थी । उनके मतिवरण नामका ग्वाला चरवाहा नौकर था ।

चरवाहा मतिवरण एक दिन गौओंको चरानेके लिये जंगलकी ओर जा रहा था । उसने देखा, वनाग्निसे सारा जंगलका जंगल भस्म होगया है । केवल बीचमें कुछ पेड़ हरे भरे बच रहे हैं । यह देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ, और वह उन पेडोंको देखनेके लिये उनकी ओर लपक गया । वहां उसने एक मुनि महाराजकी

बसतिका देखी और वहीं एक सन्दूकमें आगम ग्रन्थ रक्खे हुए पाए । उसने आगम ग्रन्थ उठा लिए और ले जाकर अपने घरमें रख छोड़े ।

सेठ करमुण्डके कोई पुत्र न था । सेठानी श्रीमती इस कारण बड़ी उदास रहती थी । किंतु सेठ धर्मात्मा था । वह धर्मकी बातें सुना और धर्म-कर्म करा कर सेठानीका मन बहलाये रखता था । एक रोज उनके यहां एक प्रतिभाशाली मुनिराजका शुभागमन हुआ, उन्होंने पड़गाह कर भक्तिभावसे मुनिराजको आहार दान दिया और इस दानके द्वारा अमित पुण्य संचय किया । उन्हें विश्वास होगया कि अब हमारे भाग्य खुलेंगे । उधर, चरवाहे मतिवरणने उन मुनिराजको आगम ग्रन्थ प्रदान किये । इस शास्त्र दानके प्रभावसे उसके ज्ञानावरणीय कर्म क्षीण-बंध होगये और वह मरकर सेठ करमुण्डकी सेठानी श्रीमतीकी कोखसे उनके पुत्र हुआ । यही तीक्ष्णबुद्धि पुत्र आगे चलकर भगवत् कुन्दकुन्द हुये ।

सेठ-सेठानी पुत्रका मुंह देखकर फूले अङ्ग न समाते थे । 'होनहार बिरवानके होत चीकने पात ।' सेठजीका पुत्र भी भाग्यशाली था । वह बचपनसे ही असाधारण व्यक्तित्व बनाये हुये था । देखते ही देखते वह सब विद्याओं और कलाओंमें निपुण होगया । धर्मात्मा माता-पिताओंका पुत्र भला धर्म-कर्मका मोही भी क्यों न होता ? जैनधर्ममें उसकी विशेष आस्था थी । उसका चित्त संसारसे विरत और परमार्थमें रत रहता था !

एक दिन श्री जिनचन्द्राचार्यका विहार करमुण्ड सेठके गांवमें

हुआ । सेठ-सेठानी पुत्र सहित आचार्य महाराजकी वन्दना करने गये । उन्होंने मुनिराजकी धर्म-देशना सुनी । सेठपुत्र प्रति-बुद्ध होगये । वह घर न लौटे । माता-पितासे आज्ञा लेकर मुनि होगये । मुनि दशामें उन्होंने घोर तपश्चरण किया । मलय देशके अन्तर्गत हेम ग्राम (पोन्नूर) के निकट स्थित नीलगिरी पर्वत उनकी तपस्यासे पवित्र हो चुका है । पहाड़की चोटीपर उनके चरण चिह्न भी विद्यमान हैं ।

उस समय काञ्चीपुर दक्षिण भारतमें जैनधर्मका केन्द्र था । साधु कुंदकुंदका अधिक समय संभवतः यहीं व्यतीत हुआ था । पट्टावलियोंमें उन्हें श्री जिनचन्द्राचार्यका शिष्य लिखा है और बताया है कि ई० पूर्व सन् ८ में उन्हें आचार्य पद प्राप्त हुआ था । इस अवस्थामें उनका जन्म ई० पूर्व सन् ५२ में हुआ समझना चाहिये; क्योंकि पट्टावलीके अनुसार वह ११ वर्ष गृहस्थ दशामें और ३३ वर्ष साधु रूपमें रहे थे । आचार्यपदपर वह लगभग ५२ वर्ष आसीन रहे थे । इस प्रकार लगभग ९६ वर्षकी दीर्घायु उन्होंने पाई थी ।

कुन्दकुन्दाचार्यने एक दिन ध्यानमें विदेह देशमें विद्यमान तीर्थंकर सीमन्धर स्वामीका स्मरण किया था । तीर्थंकर भगवानने परोक्ष रूपमें धर्म लाभ दिया था, जिसे सुनकर दो 'चारण' देव उनके दर्शन करने यहां आये थे और आखिर वे उन्हें पूर्व विदेह लेगये थे, जहां उन्होंने तीर्थंकर भगवानके साक्षात् दर्शन किये थे । तीर्थंकर भगवानके निकट उन्होंने सिद्धांत ग्रंथोंका अध्ययन किया था ।

और वह (१) मतांतर निर्णय, (२) सर्वशास्त्र, (३) कर्मप्रकाश, (४) न्यायप्रकाश नामक चार ग्रन्थ वहांसे अपने साथ ले आये थे।

पूर्व विदेह जाते हुये कुन्दकुन्दाचार्यकी मोरपिच्छिका विमानसे उड़कर गिर गई थी और उन्हें काम चलानेके लिये गिद्ध पक्षीके परोंकी पिच्छिका दे दी गई थी। इस कारण वह 'गृद्धपिच्छाचार्य' नामसे भी प्रसिद्ध होगये थे। तथापि सीमन्धरस्वामीके समोशरणमें पूर्वविदेहके चक्रवर्ती सम्राट्ने उन्हें मुनियोंमें सबसे छोटा देखकर उनकी विनय 'ऐला (छोटे) चार्य' नामसे की थी। कुण्डकौण्ड-नामक देशसे उनका घनिष्ट सम्पर्क रहा था, इसलिये ही 'कुण्ड-कौण्डाचार्य' नामसे प्रख्यात् हुये थे। इन्हींका श्रुतिमधुर नाम 'कुन्दकुन्द' है।

पूर्व विदेहसे लौटकर आचार्य महोदय धर्मप्रचार और सिद्धांत ग्रन्थोंके अध्ययनमें ऐसे लीन होगये कि उन्हें अपने शरीरकी भी सुध न रही। उस अथक परिश्रम—समय वे समय धर्माध्ययनमें लगे रहनेका परिणाम यह हुआ कि गरदन झुकाये रक्खे २ उनकी गरदन टेढ़ी होगई। लोग उन्हें 'वक्रग्रीव' कहने लगे। किन्तु उपरांत योग साधनसे वह ठीक होगई थी। लगन इसीको कहते हैं।

उस समय दक्षिण भारतमें विद्या व्यसन जोरोंपर था। मैला-पुर तामिल विद्वानोंका घर था और वहां एक "विद्वत् समाज" स्थापित था। जैनियोंकी भी वहांपर अच्छी चलती थी। श्री कुंद-कुंद ऐलाचार्यने तामिलमें 'कुरल' नामका एक महाकाव्य रचा और थिरुवल्लुवर नामक अपने शिष्यके हाथ उसे विद्वत् समाजमें पेश

करनेके लिये भेज दिया । विद्वन् मण्डलने उसे खूब पसंद किया और वह तामिल साहित्यका एक रत्न बन गया । सचमुच नीतिका वह अपूर्व ग्रन्थ है और तामिल देशमें वह 'वेद' माना जाता है । उसकी रचना ऐसी उदार दृष्टिसे की गई है कि प्रत्येक धर्मका अनुयायी उसे अपना मान्य ग्रन्थ स्वीकार करनेके लिये उतावला होजाता है । श्री कुंदकुंदाचार्यके समान धर्माचार्यकी कृति सांप्रदायिकतासे अछूती रहना ही चाहिये थी ।

'कुर्‌ल' के अतिरिक्त तामिल भाषामें और किन ग्रन्थोंकी रचना श्री कुंदकुंदस्वामीने की, यह ज्ञात नहीं है । किंतु तामिलके अतिरिक्त वह प्राकृत भाषाके भी प्रौढ़ विद्वान् थे और इस भाषामें उन्होंने जैन सिद्धांतके अनेक ग्रन्थ लिखे थे; जिनमें ' प्राभृतत्रय ', षट्‌पाहुड़, नियमसार आदि उल्लेखनीय हैं । 'प्राभृतत्रय' को उन्होंने पल्लववंशके राजा शिवकुमार महाराजके लिये लिखा था । कुंदकुंदाचार्यको यह राजा अपना गुरु मानता था और उनके धर्म-प्रचारमें यह विशेष सहायक था । दिगम्बर संप्रदायमें आज कुन्दकुन्दाचार्यके ये ग्रन्थ ही आगम ग्रन्थ होरहे हैं और इसीसे इन ग्रंथोंका महत्व स्पष्ट है ।

एक दफा श्री कुन्दकुन्दाचार्य एक बड़ासा संघ लेकर जिसमें ५९४ तो मुनि ही थे, श्री गिरनारजीकी यात्राके लिये वहां पहुंचे थे । उसी समय श्वेताम्बर संप्रदायका भी एक संघ शुक्लाचार्यकी अध्यक्षतामें वहां आया था । श्वेतांबर लोग चाहते थे कि पहले हमारा संघ यात्रा करे क्योंकि वही प्राचीन जैन संप्रदाय है । इस

पर कुन्दकुन्दाचार्यका शास्त्रार्थ शुक्लाचार्यसे हुआ, जिसमें कुन्दकुन्दाचार्यके मंत्रवलसे 'सरस्वतीदेवी' ने कहा कि दिगम्बर मत ही प्राचीन है और तब दिगम्बर संघने ही पहले पर्वतकी यात्रा की। इसी समय कुंदकुंदस्वामीने अपने कमण्डलुमें कमल–पुष्प प्रगट करके लोगोंको चकित किया था, इस कारण वह 'पद्मनंदि' नामसे प्रसिद्ध होगये थे।

उपरान्त अनेक देशोंमें विहार और मुमुक्षुओंको जैनधर्मकी दीक्षा देते हुये श्री कुन्दकुन्दाचार्य दक्षिण भारतको लौट गये। वहां अपना निकट समय जानकर वह योग-निरत होगए। ध्यान खड्ग लेकर कर्मशत्रुओंसे वह लड़ने लगे। वह सच्चे आत्म-वीर थे और थे युग-प्रधान महापुरुष। आखिर सन् ४२ के लगभग वह इस नश्वर शरीरको त्यागकर स्वर्गधाम सिधार गये।

(१२)
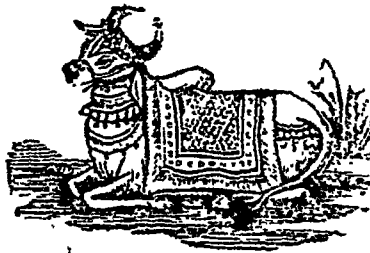
आचार्यप्रवर उमास्वाति !

तत्वार्थसूत्रकर्त्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम् ।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देहं गुणमन्दिरम् ॥

आचार्य प्रवर उमास्वातिका नाम 'तत्वार्थसूत्र' नामक ग्रन्थके कारण अजर अमर है। यह ग्रन्थ जैनोंकी 'बाइबिल' है और खूबी यह कि संस्कृत भाषामें सबसे पहला यही जैन ग्रन्थ है। सचमुच आचार्य उमास्वातिने ही जैन सिद्धांतको प्राकृतसे संस्कृत भाषामें प्रकट करनेका श्रीगणेश किया था और फिर तो इस भाषामें अनेकानेक जैनाचार्योंने ग्रन्थ रचना की।

श्री उमास्वातिकी मान्यता जैनोंके दोनों सम्प्रदायों-दिगम्बर और श्वेतांबरमें समान रूपसे है। और उनका 'तत्वार्थसूत्र' ग्रन्थ भी दोनों संप्रदायोंमें श्रद्धाकी दृष्टिसे देखा जाता है।

किंतु ऐसे प्रख्यात आचार्यके जीवनकी घटनाओंका ठीक हाल ज्ञात नहीं है। श्वेतांबरीय शास्त्रोंसे यह जरूर विदित है कि न्यग्रोधिका नामक नगरीमें उमास्वातिका जन्म हुआ था। उनके पिताका नाम स्वाति और माताका नाम वात्सी था। वह कौभीषणि गोत्रके थे; जिससे उनका ब्राह्मण या क्षत्री होना प्रगट है। उनके दीक्षागुरु ग्यारह अंगके धारक घोषनंदि क्षमण थे और विद्याग्रहणकी दृष्टिसे उनके गुरु मूल नामक वाचकाचार्य थे। उमास्वाति भी

वाचक कहलाते थे और उन्होंने 'तत्वार्थसूत्र' की रचना कुसुमपुर नामक नगरमें की थी!

दिगंबर शास्त्रोंमें उनके गृहस्थ जीवनका कुछ भी पता नहीं चलता है। साधु रूपमें वह श्री कुंदकुंदाचार्यके पट्ट शिष्य बताये गये हैं और श्री 'तत्वार्थसूत्र' की रचनाके विषयमें कहा गया है कि सौराष्ट्र देशके मध्य ऊर्जयंतगिरिके निकट गिरिनगर नामके पत्तनमें आसन्न भव्य, स्वहितार्थी, द्विजकुलोत्पन्न श्वेतांबर भक्त 'सिद्धय्य' नामक एक विद्वान श्वेतांबर मतके अनुकूल सकल शास्त्रका जाननेवाला था। उसने दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह एक सूत्र बनाया और उसे एक पाटियेपर लिख छोड़ा। एक समय चर्यार्थ श्री गृद्धपिञ्छाचार्य 'उमास्वाति' नामके धारक मुनिवर वहांपर आये और उन्होंने आहार लेनेके पश्चात् पाटियोंको देख कर उसमें उक्त सूत्रके पहले 'सम्यक्' शब्द जोड़ दिया। जब वह सिद्धय्य विद्वान वहांसे अपने घर आये और उसने पाटियेपर 'सम्यक्' शब्द लगा देखा, तो उसने प्रसन्न होकर अपनी मातासे पूछा कि, किस महानुभावने यह शब्द लिखा है? माताने उत्तर दिया कि एक महानुभाव निर्ग्रन्थाचार्यने यह बनाया है। इस पर वह गिरि और अरण्यको ढूंढ़ता हुआ उनके आश्रममें पहुंचा और भक्तिभारसे नम्रीभूत होकर उक्त मुनिमहाराजसे पूछने लगा कि आत्माका हित क्या है? मुनिराजने कहा, 'मोक्ष' है। इसपर मोक्षका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय पूछा गया, जिसके उत्तररूपमें ही इस ग्रन्थका अवतार हुआ है।" इसी कारण इस ग्रन्थका अपर नाम 'मोक्षशास्त्र' भी है। कैसा अच्छा वह समय

था, जब दिगम्बर और श्वेताम्बर आपसमें प्रेमसे रहते हुये धर्मप्रभावनाके कार्य कर रहे थे। श्वेताम्बर उपासक सिद्धय्यके लिये एक निर्ग्रन्थाचार्यका शास्त्ररचना करना इसी वात्सल्यभावका द्योतक है। यह निर्ग्रन्थाचार्य श्री उमास्वातिके अतिरिक्त और कोई न था!

इसके अतिरिक्त धर्म और संघके लिये उनने क्या क्या किया, यह कुछ ज्ञात नहीं होता। इस कारण इन महान् आचार्यके विषयमें इस संक्षिप्त वृतान्तसे ही संतोष धारण करना पड़ता है। दिगम्बर संप्रदायमें वह श्रुतिमधुर 'उमास्वामी' नामसे प्रसिद्ध हैं।
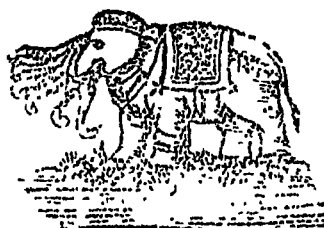
(१४)

स्वामी समन्तभद्राचार्य ।

'समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारत-भूषणः ।'

स्वामी समन्तभद्राचार्य जिनशासनके नेता थे और वह थे भारत-भूषण ! एक मात्र भद्र प्रयोजनके लिये उन्होंने लोकका उपकार करके भारतका मस्तक ऊंचा कर दिया था ।

स्वामी समन्तभद्राचार्यको जन्म देनेका श्रेय भी दक्षिणभारतको प्राप्त है। ईस्वी प्रारम्भिक शताब्दियोंमें कदम्बराजवंश भारतमें प्रसिद्ध था । इस वंशके प्रायः सब ही राजा जैन धर्मानुयायी थे । स्वामीजीने संभवतः इसी राजवंशको अपने जन्मसे सुशोभित किया था। उनके माता-पिताके नाम और उनकी जन्मतिथि क्या थी, इसका पता आज नहीं लगा । किन्तु यह स्पष्ट है कि उनके पिता फणिमंडलान्तर्गत 'उरगपुर' के क्षत्रीराजा थे । उरगपुर तब कावेरी नदीके किनारे बसा हुआ था। वह बन्दरगाह और एक बड़ा ही समृद्धिशाली जनपद था । जैनोंका वह केन्द्र था। इसी जैन केन्द्रमें स्वामीजीका बाल्यजीवन व्यतीत हुआ था ।

तब स्वामी समन्तभद्राचार्य 'शान्तिवर्म्म' नामसे प्रसिद्ध थे । शांतिवर्म्मने बहुत करके अपनी शिक्षा-दीक्षा उरगपुरमें ही पाई थी ! पर यह नहीं कहा जासक्ता कि उन्होंने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया था या नहीं ! हां, यह स्पष्ट है कि वह छोटी उम्रमें ही संसारसे विरक्त होकर साधु होगये थे। सचमुच बाल्यावस्थासे ही समन्तभद्रने अपनेको जिनशासन और जिनेन्द्रदेवकी सेवाके लिए अर्पण

कर दिया था । 'उनके प्रति आपको नैसर्गिक प्रेम था और आपका रोमर उन्हींके ध्यान और उन्हींकी वार्ताको लिये हुये था । आपकी धार्मिक परिणतिमें कृत्रिमताकी जरा भी गंध नहीं थी । आप स्वभावसे ही धर्मात्मा थे और आपने अपने अन्तःकरणकी आवाजसे प्रेरित होकर ही जिनदीक्षा धारण की थी ।'

सच बात तो यह है कि समन्तभद्रजी युगप्रधान पुरुष थे । क्रान्ति उनके जीवनका मूल सूत्र था । कोई भी बात उन्हें इसलिये मान्य नहीं थी कि वह पुरातन प्रथा है अथवा किसी अन्य पुरुषने उसको वैसा ही बताया है । बल्कि वह 'सत्य' की कसौटीपर हरबातको कस लेना आवश्यक समझते थे । जैन मुनि होनेके पहले उन्होंने स्वयं जिनेन्द्रदेवके चारित्र और गुणकी जाँच की थी और जब उन्हें 'न्यायविहित और अद्भुत उदय सहित पाया, तो सुप्रसन्नचित्तसे जिनेन्द्रदेवकी सच्ची सेवा और भक्तिमें लीन होगये ।' इस भावको उन्होंने अपने इस पद्यसे ध्वनित किया है:—

अतएव ते बुधनुतस्य चरितगुणमद्भुतोदयम् ।
न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम्

॥ १३० ॥—युक्त्यानुशासन ।

एक युगवीरके लिये यह कार्य ठीक भी था । मनुष्य एक टकेकी हांडीको ठोक बजाकर लेता है, तब धार्मिक बातोंमें अन्ध-अनुसरण करना बुद्धिमत्ता नहीं कही जासक्ती । समंतभद्र जैसे विद्वान् भला यह गल्ती कैसे करते ?

स्वामी समन्तभद्रने जिन दीक्षा कांची या उसके सन्निकट

कहीं ग्रहण की थी। और कांची (Conjeevarem) ही उनके धार्मिक उद्योगोंका केन्द्र था। 'राजावलीकथे' नामक ग्रंथमें लिखा है कि वहां वह अनेकवार पहुंचे थे। उसपर समन्तभद्रजी स्वयं कहते हैं कि "मैं कांचीका नग्न साधु हूं।" (कांच्यां नग्नाटकोऽहं।) किन्तु फिर भी आपके गुरुकुलका कुछ भी परिचय नहीं मिलता। किस महानुभावको आपका दीक्षागुरु होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था, यह कहा नहीं जासक्ता। हां, यह विदित है कि आप 'मूल-संघ' के प्रधान आचार्योंमें थे। विक्रमकी १४वीं शताब्दीके विद्वान् कवि हस्तिमल्ल और अय्यप्पार्यने '*श्री मूलसंघ व्योमेन्दुः*' विशेषणके द्वारा आपको मूलसंघ रूपी आकाशका चन्द्रमा लिखा है।'

जैन साधु होकर स्वामीजीने गहन तपश्चरण और अटूट ज्ञान संचय करनेमें समय व्यतीत किया था। उन्होंने दिगम्बर साधुका पवित्र भेष मात्र दिखावे अथवा ख्यातिलाभ या अन्य किसी लालचसे धारण नहीं किया था और न उन्होंने कभी किसी अन्य व्यक्तिकी चापलूसीमें आकर अथवा इन्द्रियोंके विषयमें गृद्ध होकर मुनिपदको लाञ्छित ही किया था। उन्होंने ऐसे मोही और नामके द्रव्यलिङ्गी मुनि भेषियोंकी अच्छी भर्त्सना की है। उनका मत था कि "निर्मोही (सम्यग्दृष्टि) गृहस्थ मोक्षमार्गी है, परन्तु मोही मुनि मोक्षमार्गी नहीं, और इसलिये मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है।' उनका साधु जीवन, उनकी इस उक्तिका अच्छा प्रतिबिंब है।

स्वामीजीके शांत और ज्ञानमय साधु जीवनमें उनपर एक वार अचानक विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ा था। स्वामीजी मणुवकहल्ली ग्राममें

विचर रहे थे । एकाएक पूर्व संचित असाता वेदनीय कर्मके तीव्र उदयसे उनके शरीरमें 'भस्मक' नामक महा रोग उत्पन्न होगया । स्वामीजीको शरीरसे कुछ ममत्व तो था नहीं, शुरू २ में उन्होंने इस रोगकी जरा भी परवाह न की ! तृषा क्षुधादि परीषहोंकी तरह वे इसको भी सहन करने लगे । किंतु सामान्य क्षुधा और इस 'भस्मक क्षुधा'में बड़ा अंतर था । उपरांत समन्तभद्रजीको इससे बड़ी वेदना होने लगी । उसपर भी उन्होंने न तो किसीसे दुवारा भोजनोंकी याचना की और न स्निग्ध व गरिष्ठ भोजनके तैयार करनेके लिये प्रेरणा की । बल्कि वस्तुस्थितिको विचार कर वे अनित्यादि भावनाओंका चिंतवन करते रहे । किन्तु रोग उत्तरोत्तर बढता गया और स्वामीजीके लिये वह असह्य होगया । उनकी दैनिक चर्यामें भी बाधा पड़ने लगी । स्वामीजीने देखा कि अब उनके लिये शास्त्रोक्त मुनि जीवन विताना असंभव है, इस लिये उन्होंने 'सल्लेखना' व्रत अंगीकार कर लेना उचित समझा । शरीरके लिये अपने धर्मको छोड़ देना उनके लिए एक अनहोनी बात थी । अपने गुरुसे यह व्रत ग्रहण करनेकी आज्ञा मांगी । वयोवृद्ध तपोरत्न गुरुमहाराज कुछ देर तक मौन रहकर स्वामीजीकी ओर देखते रहे । उन्होंने अपने योगबलसे जान लिया कि समंतभद्र अल्पायु नहीं हैं; बल्कि उनके द्वारा धर्म और शासनके उद्धारका महान् कार्य होनेको है । बस, उन्होंने समंतभद्रको सल्लेखना करनेकी आज्ञा नहीं दी; प्रत्युत आदेश किया कि जिस वेशमें जैसे हो रोगके शांत करनेका उपाय करो । क्योंकि रोगके शांत होनेपर पुनः प्रायश्चित्त पूर्वक मुनिधर्म

धारण किया जा सक्ता है । गुरुमहाराजका यह आदेश गंभीर और दूरदर्शिता एवं लोकहितकी दृष्टिको लिये हुए था । शरीर ही तो धर्मकार्य करनेका मुख्य साधन है । यदि किसी उपाय द्वारा वह साधन प्राप्त हो सक्ता हो और उसके द्वारा धर्मका महान उत्कर्ष होसक्ता हो, तो बुद्धिमत्ता इसीमें है कि शरीरको उपयुक्त बनालेनेका उपाय करे ।

समंतभद्रजीने गुरुजीकी आज्ञाको शिरोधार्य किया । उन्होंने परम श्रेष्ठ दिगम्बर वेषको त्यागकर अपने शरीरको भस्मसे आच्छादित बना लिया । भस्मक रोगकी व्याधि उनके नेत्रोंको आर्द्र न बना सकी थी, किंतु दिगंबर मुनि वेषको सादर त्याग करते हुए उनकी आंखे डबडबा गईं । यह बड़ा ही करुण दृश्य था, परन्तु धर्मके लिये न करने योग्य कार्य भी एकबार करना पड़ता है । यही सोचकर स्वामीजी शांत होगये । उन्होंने कहा, 'भले ही जाहिरा मैं भस्म रमाये वैष्णव सन्यासी दीखता हूं, परन्तु भावोंमें—असलमें मैं दिगम्बर साधु ही हूं ।' हृदयमें जैनधर्मकी दृढ़ श्रद्धाको लिये हुये स्वामीजी मणुवकहल्लीसे चलकर कांची पहुंच गये । सच है, आचरणसे भ्रष्ट हुआ मनुष्य भ्रष्ट नहीं होता—वह अवश्य ही सम्यग्दर्शनकी महिमासे सिद्धपदको पालेता है, किंतु सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हुए व्यक्तिके लिये कहीं भी ठिकाना नहीं है । वही वस्तुतः भ्रष्ट है और उसका अनंत संसार है । धर्मके लिये स्वामीका यह त्याग वास्तवमें चरमसीमाका था ।

कांचीमें उस समय शिवकोटि नामक राजा राज्य करता था । 'भीमलिंग' नामका उसका एक शिवालय था । समंतभद्रजी इसी

शिवालयमें पहुंचे और उन्होंने राजाको आशीर्वाद दिया तथा वह बोले—"राजन् ! मैं तुम्हारे नैवेद्यको शिवार्पण करूंगा ।" राजा यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ । सवा मनका प्रसाद शिवार्पणके लिये आया । समंतभद्र उस भोजनके साथ अकेले मंदिरमें रह गये और उन्होंने सानंद अपनी जठराग्निको शांत किया । उपरांत दरवाजा खोल दिया । संपूर्ण भोजनकी समाप्तिको देखकर राजाको बड़ा ही आश्चर्य हुआ । वह बड़ी भक्तिसे और भी अच्छे भोजन शिवार्पणके लिये भेजने लगा । किंतु अब स्वामीकी जठराग्नि शांत हो चली थी, इसलिये भोजन उत्तरोत्तर अधिक परिमाणमें बचने लगा। समंतभद्रने साधारणतया इस शेषान्नको देव प्रसाद बतलाया; किंतु राजाको उससे संतोष न हुआ । अगले दिन राजाने शिवालयको सेनासे घेर लिया और दरवाजा खोल देनेकी आज्ञा दी । दरवाजा खुलनेकी आवाज सुनकर समंतभद्रको भावी उपसर्गका निश्चय होगया। उन्होंने उपसर्गकी निवृत्ति पर्यंत अन्न जलका त्याग कर दिया और वे शांतचित्तसे श्री चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी स्तुति करनेमें लीन होगये । स्तुति करते हुये समन्तभद्रजीने जब आठवें तीर्थंकर श्रीचंद्रप्रभस्वामीकी स्तुति करके भीमलिंगकी ओर दृष्टि की तो उन्हें उस स्थानपर किसी दिव्यशक्तिके प्रतापसे चंद्र लांछन युक्त अर्हंत भगवानका एक जाज्वल्यमान सुवर्णमय विशुद्ध बिंब प्रगट होता दिखलाई दिया । इतनेमें किवाड भी खुल गये थे । राजा भी इस चमत्कारको देखकर दंग रह गया और वह अपने छोटे भाई शिवायन सहित समंतभद्रके चरणोंमें गिर पड़ा । जब स्वामीजी २४ भगवानोंकी स्तुति

पूरीकर चुके, तब उन्होंने उनको आशीर्वाद देकर धर्मोपदेश दिया। राजा उसे सुनकर प्रतिबुद्ध होगया और अपने पुत्र 'श्रीकण्ठ' को राज्य देकर 'शिवायन' सहित दिगम्बर जैन मुनि होगया। राजाके साथ और भी बहुतसे लोग जैनधर्मकी शरणमें आए। यही शिवकोटि मुनि उपरांत एक बड़े आचार्य हुये और इनका रचा हुआ साहित्य भी उपलब्ध है। धन्य हैं, स्वामी समन्तभद्र जिन्होंने आपत्कालमें भी जैनधर्मकी अपूर्व प्रभावना की और अजैन भव्योंको जैन धर्ममें दीक्षित किया।

इस प्रकार स्वामीजीका आपत्काल शीघ्र नष्ट होगया और देहके स्वस्थ्य होजानेपर उन्होंने फिरसे जिनदीक्षा धारण कर ली। वह फिर घोर तपश्चरण और यम-नियम करने लगे। उन्होंने शीघ्र ही ज्ञान-ध्यानमें अपार शक्ति संचय कर ली। अब वे आचार्य होगये और लोग उन्हें जिन शासनका प्रणेता कहने लगे। वे 'गणतो गणीशः' अर्थात् गणियों यानी आचार्योंके ईश्वर (स्वामी) रूपमें प्रसिद्ध होगए।

जैनधर्म और जैनसिद्धांतके स्वामीजी अगाध मर्मज्ञ थे। इसके सिवाय वह तर्क, व्याकरण, छद, अलंकार और काव्यकोषादि विषयोंमें पूरी तौरसे निष्णात थे। जैन न्यायके तो वह स्वामी थे और उन्हें 'न्याय तीर्थंकर' कहना उचित है। सचमुच स्वामीजीकी अलौकिक प्रतिभाने तात्कालिक ज्ञान और विज्ञानके प्रायः सब ही विषयोंपर अपना अधिकार जमा लिया था। यद्यपि वह संस्कृत, प्राकृत, कनड़ी और तामिल आदि कई भाषाओंके पारंगत विद्वान

थे, परन्तु संस्कृतपर उनका विशेष अनुराग था । दक्षिण भारतमें उच्चकोटिके संस्कृत ज्ञानके प्रोत्तेजन, प्रोत्साहन और प्रसरणमें उनका नाम खास तौरसे लिया जाता है । स्वामीजीके समयसे संस्कृत साहित्यके इतिहासमें एक खास युगका प्रारंभ होता है और इसीसे संस्कृत साहित्यमें उनका नाम अमर है। सचमुच स्वामीजीकी विद्याके आलोकमें एक वार सारा भारतवर्ष आलोकित होचुका है । देशमें जिससमय बौद्धादिकोंका प्रबल आतंक छाया हुआ था और लोग उनके नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, क्षणिकवादादि सिद्धांतसे संत्रस्त थे—घबरा रहे थे, अथवा उन एकांत गर्तोंमें पड़कर अपना आत्मपतन करनेके लिए विवश होरहे थे, उस समय दक्षिण भारतमें उदय होकर स्वामीजीने जो लोकसेवा की है, वह बड़े ही महत्वकी तथा चिरस्मरणीय है और इसलिए श्री शुभचंद्राचार्यने जो आपको 'भारत-भूषण' लिखा है वह बहुत ही युक्तियुक्त जान पड़ता है !

समन्तभद्राचार्यजीकी लोकसेवाका कार्य केवल दक्षिण भारतमें ही सीमीत नहीं रहा था । उनकी वादशक्ति अप्रतिहत थी और उन्होंने कई वार नंगे पैरों और नंगे बदन देशके इस छोरसे उस छोर तक घूमकर मिथ्यावादियोंका गर्व खण्डित किया था । स्वामीजी महान योगी थे । कहते हैं कि उनको योगबलके प्रतापसे 'चारणऋद्धि' प्राप्त थी, जिसके कारण वे अन्य जीवोंको बाधा पहुंचाये विना ही सैकड़ों कोसोंकी यात्रा शीघ्र कर लेते थे । इस कारण समंतभद्र भारतके पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर प्रायः सभी देशोंमें एक अप्रतिद्वंदि सिंहकी तरह क्रीडा करते हुए, निर्भयताके साथ

वादके लिये घूमे थे। एक बार वह घूमते हुए 'करहाटक' नगरमें भी पहुंचे थे। जिसे कुछ विद्वानोंने सतारा जिलेका आधुनिक 'कराड' और कुछने दक्षिण महाराष्ट्र देशका 'कोल्हापुर' नगर बतलाया है। और जो इस समय बहुतसे भटो (वीर योद्धाओं) से युक्त था। विद्याका उत्कट स्थान था और जनाकीर्ण था। उस वक्त उन्होंने वहांके राजापर अपने वाद प्रयोजनको प्रकट करते हुए, उन्हें अपना तद्विषयक जो परिचय एक पद्यमें दिया था, वह श्रवणबेलगोलके ५४ वें शिलालेखमें निम्नप्रकारसे संग्रहीत है:—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताड़िता,
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरी वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं॥

'इस पद्यमें दिये हुए आत्म-परिचयसे यह मालूम होता है कि 'करहाटक' पहुंचनेसे पहले समंतभद्रने जिन देशों तथा नगरोंमें वादके लिए विहार किया था, उनमें पाटलीपुत्रनगर, मालव, सिन्धु तथा ठक्क (पंजाब) कांचीपुर और वैदिशा (भिलसा), ये प्रधान देश तथा जनपद थे, जहां उन्होंने वादकी भेरी बजाई थी और जहांपर किसीने भी उनका विरोध नहीं किया था। समंतभद्रजीकी इस सफलताका सारा रहस्य उनके अन्तःकरणकी शुद्धता, चारित्रकी निर्मलता और उनकी वाणीके महत्वमें सन्निहित है। स्वामीजीने राजसी भोगोपभोग और ऐश्वर्यको लात मारकर निर्ग्रन्थ साधुका पद ग्रहण किया था। फिर भला उनके हृदयमें अहंकारकी नीच भावना कैसे

स्थान पासक्ती थी ? उनकी वाक्गिरा लोकहितके लिए होती थी। इसीलिए वह सर्वमान्य थी। सच पूछिये तो स्वात्महित साधनके साथ२ दूसरेका हितसाधन करना ही स्वामीजीका प्रधान कार्य था और बड़ी योग्यताके साथ उन्होंने इसका संपादन किया था, ऐसे महान् आत्मविजयी वीरपर भारतवासी जितना गर्व करें थोड़ा है !

स्वामीजीने लोकहितकार्यके साथ२ जो श्रेष्ठ साहित्यरचना की थी, उसमेंके कुछ रत्न अब भी मिलते हैं। मुख्यतः वे इस प्रकार हैं:—१—आप्तमीमांसा, २-युक्त्यनुशासन, ३—स्वयंभूस्तोत्र, ४—जिनस्तुतिशतक, ५—रत्नकरण्डक उपासकाध्ययन, ६—जीवसिद्धि, ७—तत्त्वानुशासन, ८—प्राकृत व्याकरण, ९—प्रमाणपदार्थ, १०—कर्मप्राभृत टीका और ११—गंधहस्तिमहाभाष्य। यह महाभाष्य आज दुर्लभ है, फिर भी इन ग्रंथरत्नोंसे स्वामीजीकी अमरकीर्ति संसारमें चिरस्थायी है।

स्वामीजीके प्रारम्भिक जीवनकी तरह ही उनका अंतिमजीवन भी अंधकारके पर्देमें छिपा हुआ है। हां, यह स्पष्ट है कि उनका अस्तित्व समय शक सं० ६० (ई० सन १३८) था और वह एक बड़े योगी और महात्मा थे। उनके द्वारा धर्म, देश तथा समाजकी सेवा विशेष हुई थी।

(१५)

श्री नेमिचंद्राचार्य और वीरशिरोमणि वीरमार्तंड चामुंडराय।

दक्षिण भारतके जैन इतिहासमें आचार्य प्रवर श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती और वीरशिरोमणि चामुण्डरायके नाम स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित हैं। इन दोनों महानुभावोंका पारस्परिक संबंध भी घनिष्ट है। सच पूछिये तो श्री नेमिचंद्र रूपी विद्यावारिधिसे यह चामुंडराय सदृश विद्यारत्न उत्पन्न हुआ है।

चामुण्डरायके जमानेमें महीशूर (Mysore) देश 'गंगवाड़ी' नामसे प्रसिद्ध था और वहां ईस्वी दूसरी शताब्दीसे जैनधर्म प्रतिपालक गंगवंशी क्षत्रिय-वीरोंका राज्याधिकार था। गङ्ग वंशमें मारसिंह द्वितीय नामके एक राजा ईस्वी दसवीं शताब्दीमें हुए। चामुण्डराय इन्हींके सेनापति और राजमंत्री थे। इनके राज्यकालमें गंगसेनाने चेर, चोल, पांड्य और नोलंबाडि देशके पल्लव राजाओंसे रणांगणमें लोहा लिया था और विजयश्री उसके भाग्यमें रही थी। आखिर सन् ९७५ ई० में मारसिंहने आचार्य श्री अजितसेनके निकट बङ्कापुरमें समाधिमरण किया था। उपरांत राचमल्ल द्वितीयने गंग वंशके राजसिंहासनको सुशोभित किया था और इनके बाद राक्षस गंग राज्याधिकारी हुए थे। चामुण्डरायजीने इन दोनों राजाओंकी कीर्तिगरिमाको अपनी अमूल्य सेवाओं द्वारा सुरक्षित रक्खा था।

यह दीर्घायु और भाग्यशाली चामुण्डराय ब्रह्म-क्षत्रवंशके रत्न थे। उनके माता पिता कौन थे और उनका जन्म कहां और किस तिथिको हुआ था, दुर्भाग्यसे इन बातोंका पता इसी तरह नहीं चलता जिसतरह श्री नेमिचंद्राचार्यजीके प्रारम्भिक जीवनका कुछ भी वृतांत नहीं मिलता! हां, यह स्पष्ट है कि चामुण्डरायका अधिक समय गंगोंकी राजधानी तलकाडमें व्यतीत हुआ था।

चामुण्डरायकी माताका नाम काललदेवी था और वह जैन धर्मकी दृढ़ श्रद्धालु थीं। श्री चामुण्डरायने धर्म प्रतीति उन्हींसे ग्रहण की थी। अच्छे बुरेको समझते ही चामुंडरायने श्री अजितसेन स्वामीसे श्रावकके व्रत स्वीकार किए थे। और वह परम सम्यक्त्वी श्रावक होगये थे। आचार्य आर्यसेनके निकट उन्होंने शस्त्र और शास्त्रज्ञानको ग्रहण किया था। किन्तु उनके जीवन-सांचेको ठीक-ठीक ढालनेवाले महानुभाव श्री नेमिचंद्राचार्य ही थे। चामुण्डरायको अध्यात्म-ज्ञान इन्हींसे प्राप्त हुआ था। स्वयं आचार्य नेमिचंद्रजी कहते हैं:—

सिद्धन्तुदयतडुग्गयणिम्मलवरणेमिचन्द्रकरकलिया।
गुणरयणभूसणंवुहिमइवेला भरउ भुवणयलं॥ ९६७॥

अर्थात्—उनकी वचनरूपी किरणोंसे गुण-रूपी रत्नोंसे शोभित चामुण्डरायका यश जगतमें विस्तरित हो। इन बातोंसे यह स्पष्ट है कि चामुण्डरायने नियमितरूपसे ब्रह्मचर्य्याश्रममें विद्या और कलाका अध्ययन करके युवावस्थाको प्राप्त किया था और तब वह एक सफल गृहस्थ बने थे। उनका विवाह अजितादेवी नामक रमणीरत्नसे हुआ

था। इन्हीं देवीसे जिनदेवन् नामक एक धर्मात्मा और सज्जन पुत्र उन्हें नसीब हुआ था।

गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके चामुण्डराय एक धर्मात्मा और वीर नागरिक बन गये थे। उनकी योग्यताने उन्हें गङ्गराजाओंके महामंत्री और सेनापति जैसे उच्चपदपर प्रतिष्ठित किया था। दूसरे शब्दोंमें कहें तो उस समय महीशूर देशके भाग्यविधाता चामुण्डराय थे। मालूम होता है उनकी इस श्रेष्ठताको लक्ष्य करके ही विद्वानोंने उन्हें "ब्रह्मक्षत्र-कुल-भानु"—"ब्रह्मक्षत्र—कुलमणि" आदि विशेषणोंसे स्मरण किया है। शासनाधिकार जैसे महत्तर पदपर पहुंचकर भी उन्होंने नैतिक आचरणका कभी भी उल्लंघन नहीं किया, तब भी उनके निकट "परदारेषु मातृवत् और परद्रव्येषु लोष्टवत्" की उक्ति महत्वशाली होरही थी। अपने ऐसे ही गुणोंके कारण वह शौचाभरण कहे गये हैं। साथ ही खूबी यह है कि अपनी सत्य-निष्ठाके लिये वह इस कलिकालमें 'सत्य युधिष्ठिर' कहलाते थे। वैसे उनके वैयक्तिक नाम 'चामुण्डराय' 'राय' और 'गोम्मटदेव' थे, किंतु अपने वीरोचित गुणोंके कारण वह 'वीर मार्तण्ड' आदि नामोंसे भी प्रख्यात थे। उनके पूर्वभवके सम्बन्धमें कहा गया है कि 'कृतयुग' में वह 'सम्मुख' के समान थे, त्रेतायुगमें 'राम' के सदृश और कलियुगमें 'वीर मार्तण्ड' हैं। इन बातोंसे उनके महान् व्यक्तित्वका सहज ही अनुमान लगाया जासक्ता है।

श्री चामुण्डरायजीके प्रारंभिक जीवनके विषयमें थोड़ा-बहुत वर्णन मिलता है किन्तु उनके गुरु श्री नेमिचंद्राचार्यजीके सम्बंधमें

कुछ भी ज्ञात नहीं होता। उनके माता-पिता कौन थे ? उनका जन्म-स्थान क्या था ? उन्होंने कहां किससे जिनदीक्षा ग्रहण की, यह कुछ भी मालूम नहीं होता। हां, उनके साधुजीवनकी जो घटनायें मिलती हैं उनसे उनका एक महान पुरुप होना सिद्ध है। वह मूलसंघ और देशीगणके आचार्य थे। 'गोम्मटसार'में उन्होंने श्री अभयनंदि, श्री इंद्रनंदि, श्री वीरनंदि और श्री कनकनंदिको गुरुवत् स्मरण किया है; किन्तु उनके खास गुरु कौन थे, यह नहीं कहा जासक्ता।

चामुण्डरायजीका श्री नेमिचंद्राचार्यजीसे घनिष्ट सम्पर्क था। जिनके घरमें आचार्य महाराजकी विशेप मान्यता थी। एकरोज आचार्य महाराजने पौदनपुरके श्री गोम्मटेश्वरकी विशाल मूर्त्तिका वर्णन किया। उसका हाल चामुण्डरायजीकी माता पहलेसे सुन चुकी थीं। उन्होंने निश्चय किया कि उस पावन-तीर्थकी यात्रा अवश्य करूंगी। तदनुसार चामुण्डरायजीने यात्रा-संघ ले चलनेका प्रबंध किया। आचार्य नेमिचंद्र भी उसके साथ चले। जिस समय यह संघ श्रवणबेलगोलके निकट आकर पड़ा, तो वहां मालूम हुआ कि पौदनपुरकी यात्रा सुगम नहीं है। वहांका मार्ग कुक्कुट-सर्पाच्छन्न हो रहा है। धर्मवत्सल चामुंडरायकी माता इन दुःखद समाचारोंको सुनकर खिन्नमना हुई; किन्तु श्री नेमिचंद्राचार्यजीका योग तेज उनको ढाढस बंधानेमें सफल हुआ। नेमिचंद्रजीको श्री पद्मावतीदेवीने आकर बताया कि जहां संघ ठहरा हुआ है, वहीं निकटकी पहाड़ी पर राम-रावणसे पूजी हुई एक प्राचीन विशालकाय बाहुबलिजीकी मूर्ति उकेरी हुई है। लोग उसे भूले हुये हैं। उसका उद्धार कराकर

चामुंडरायजीकी माताकी मनोकामना सिद्ध कराइये। श्री नेमिचंद्राचार्यजीने उस दिन अपनी धर्म-देशनामें इस सत्यका उद्घाटन कर दिया। सारे संघके सदस्य यह हर्ष समाचार सुनकर प्रसन्न हो गए। चामुंडरायने अपनी माताकी संतुष्टिके लिए उस पर्वत पर स्थित प्राचीन मूर्तिका उद्धार करना प्रारंभ करा दिया। ठीक समयपर एक विशालकाय मूर्ति वहां बनकर तैयार होगई। आचार्य महाराजने शुभ तिथि और वारको उसका प्रतिष्ठा-अनुष्ठान महोत्सव करानेका आदेश किया। श्री अजितसेनाचार्य प्रतिष्ठा कार्यको सम्पन्न करनेको बुलाये गये। बड़ा भारी धर्मोत्सव हुआ। चामुंडरायने अपने जीवनको सफल बना लिया। यह चैत्र शुक्ल पंचमी इतवार ता० १३ मार्च सन् ९८१ ई०की सुखद घटना है। इसी रोज श्रवणबेलगोलकी लगभग ५८ फीट ऊंची विशाल काय गोम्मट मूर्तिका उद्घाटन हुआ था; जो आज भी संसारमें चामुंडरायके अमर नामकी कीर्ति फैला रही है और संसारकी अद्भुत वस्तुओंमें एक है।

श्री गोम्मटेश्वरकी मूर्तिस्थापनाके कारण चामुण्डराय 'राय' नामसे प्रसिद्ध हुये और उन्होंने श्री नेमिचन्द्राचार्यजीकी पाद-पूजा करके इस मूर्तिकी रक्षा और पूजाके लिये कई गांव उनकी भेट कर दिये। सचमुच चामुण्डरायकी यह मूर्ति स्थापना बड़े महत्वकी है। जैनधर्म विश्वकी सम्पत्ति है। जिनदेवका अवतरण प्राणीमात्रके हितके लिये होता है। उनकी पूजा अर्चना करनेका अधिकार जीव-मात्रको है। श्री चामुंडराय इन बातोंको अच्छी तरह जानते थे। उनकी यह मूर्ति स्थापना जैनधर्मके इस विशाल रूपको स्पष्ट प्रगट

कर रही है। आज श्रवणवेलगोलके पवित्र जिन मंदिरोंके और खास-कर गोम्मटेश्वरके दर्शन करनेके लिए जैनी-अजैनी, भारतवासी और विदेशी सब ही आते हैं और दर्शन करके अपनेको कृतकृत्य हुआ समझते हैं। वास्तवमें पुनीत धर्म-भावके साथ श्रवणवेलगोलके पुरा-तत्वकी शिल्पकला भी एक दर्शनीय वस्तु है। यह सोनेमें सुगंधि श्री चामुण्डराय और आचार्य नेमिचन्द्रजीकी असूझ सूझकी सूचक है। आचार्य महोदय उनके धर्मकार्योंका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणो य।
गोम्मटरायविणिम्मियदक्खिण कुक्कडजिणो जयउ ॥९६८॥

अर्थ—'गोमटसार संग्रहरूप सूत्र' गोम्मट शिखरके ऊपर चामुं-डराय राजाके बनवाये हुए जिनमंदिरमें विराजमान एक हाथ प्रमाण इन्द्रनीलमणिमय नेमिनाथ तीर्थंकरदेवका प्रतिबिंब तथा उसी चामुंड-राय द्वारा निर्मापित लोकमें रूढ़िसे प्रसिद्ध दक्षिण कुक्कुट नामक प्रतिबिंब जयवन्त प्रवर्तो।'

'जेण विणिम्मियपडिमावयणं सव्वट्ठसिद्धिदेवेहिं।
सव्वपरमोहिजोगिहिं दिट्ठं सो गोम्मटो जयउ ॥ ९६९ ॥

अर्थ—'जिस रायने बनवाई उस जिन प्रतिमाका मुख सर्वार्थ-सिद्धिके देवोंने तथा सर्वावधिके धारक योगीश्वरोंने देखा है। वह चामुंडराय सर्वोत्कृष्टपने प्रवर्तो।'

'वज्जयणं जिणभवणं ईसिपभारं सुवण्णकलसं तु।
तिहुवणपडिमाणिक्कं जेण कय जयउ सो राओ ॥ ९७० ॥

अर्थ—जिसका अवनितल वज्र सरीखा है, जिसका ईषप्राग्भार

नाम है, जिसके ऊपर सुवर्णमई कलश है, तथा तीन लोकमें उपमा देने योग्य ऐसा अद्वितीय जिनमंदिर जिसने बनवाया वह चामुण्ड-राय जयवंत होवो। ।'

'जेणुब्भियथंभुवरिमजक्खतिरीटग्गकिरणजलधोया।
सिद्धाण सुद्धपाया सो राओ गोम्मटो जयउ ॥ ९७१ ॥

अर्थ—जिसने चैत्यालयमें खड़े किए हुए खंभोंके ऊपर स्थित जो यक्षके आकार हैं, उनके मुकुटके आगेके भागकी किरणों रूप जलसे सिद्ध परमेष्ठियोंके आत्मप्रदेशोंके आकार रूप शुद्ध चरण धोये हैं, ऐसा चामुंडराय जयको पाओ।'

इसप्रकार श्रवणबेलगोलको चामुंडरायने विपुल धनराशि व्यय करके दर्शनीय स्थान बना दिया था। अपने इन धार्मिक कृत्योंके कारण ही चामुण्डराय जनसाधारणको प्रिय और धर्मप्रभावक थे। किन्तु उनके निमित्तसे संपन्न हुआ एक अन्य महत्वशाली कार्य विशेष उल्लेखनीय है। वह है श्री नेमिचन्द्राचार्य द्वारा उनके लिए "गोम्मटसार" सिद्धान्त-ग्रंथका रचा जाना। जैन दर्शनके लिये यह अमूल्य रत्न-पिटक है। इसके अतिरिक्त श्री नेमिचन्द्राचार्यजीने और भी कई ग्रंथोंका प्रणयन किया था; जिनमें उल्लेखनीय यह हैं:—

(१) द्रव्यसंग्रह, (२) लब्धिसार, (३) क्षपणासार, (४) त्रिलोकसार, (५) प्रतिष्ठापाठ (?)

अपने गुरुके अनुरूप चामुण्डरायजी भी एक आशु ग्रँथकार थे। उन्होंने संस्कृत-प्राकृत और कनड़ी भाषा द्वारा कविता-कामिनीकी उपासना की थी। किन्तु उनकी रचनाओंमें अब मात्र दो ही उप-

लब्ध हैं, (१) चारित्रसार और (२) त्रिषष्टि-लक्षण-पुराण। पहला संस्कृत भाषामें आचार ग्रंथ है और दूसरा कनड़ी भाषाका पुराणग्रंथ है, जो बेंगलोरसे छप चुका है। कहते हैं कि चामुंडरायने "गोम्मटसार" पर एक कनड़ी टीका भी रची थी। सारांशतः श्री नेमिचन्द्राचार्य और श्री चामुण्डरायने धर्मप्रभावनाके लिये कुछ उठा न रक्खा था!

किन्तु चामुण्डरायके जीवनका दूसरा पहलू और भी अनूठा है। परमार्थका साधन करते हुये उन्होंने लोकसम्बंधी कार्योंको भुला नहीं दिया था। वह पक्के कर्मवीर थे। गङ्गराज्यकी श्री-वृद्धि उनके बाहुबलकी साक्षी देरही है। एक व्रती श्रावक होते हुए भी उन्होंने सेनापतिके पदसे बड़ेर युद्धोंका सञ्चालन किया था। अपनी जननी जन्मभूमिके लिये वह दीवाने थे। उसकी मानरक्षा और यशविस्तारके लिए उनका तेगा हरसमय म्यानके बाहर रहता था। उनसे धर्मशूरके लिये यह कोई अनोखी बात नहीं है; क्योंकि जैन अहिंसा किसी भी व्यक्तिके राष्ट्रधर्ममें बाधक नहीं है। जैन धर्म कहता है, 'पहले कर्म्मशूर बन जाओ तभी तुम धर्मशूर बन सकोगे।' चामुण्डरायके महान् व्यक्तित्वमें यह आदर्श जीताजागता दिखाई पड़ रहा है।

चामुण्डरायने अपने शत्रुओंको अनेक वार परास्त किया जरूर, किन्तु अकारण मात्र द्वेषवश उनके प्राणोंको अपहरण नहीं किया। भाग्यवशात् रणक्षेत्रमें कोई कालकवलित होगया तो वह दूसरी बात है। अत्याचारका निराकरण करनेके लिये चामुण्डरायने गङ्गसैन्यको रणाङ्गणमें वीरोचित मार्ग सुझाया था। कहा गया है कि खेड़गकी लड़ाईमें अत्याचारी विज्जलको हराकर चामुण्डरायने 'समरधुरंधर' की

उपाधि प्राप्त की थी। नोलम्ब रणमें गोनूरके मैदानके बीच उन्होंने जो रण-शौर्य प्रकट किया उसके कारण वह 'वीर-मार्तण्ड' कहलाये। उच्छंगिके किलेको जीतकर वह 'रणरंगसिंह' होगये और बागलूरके किलेमें त्रिभुवनवीर आदिको कालके गालमें पहुंचाकर उन्होंने गोविन्दराजको उसका अधिकारी बना दिया। इसलिए वह 'वैरीकुल-कालदण्ड' नामसे प्रसिद्ध हुए। कामराजके गढ़में उन्होंने जो विजय पाई, उसके उपलक्षमें वह भुजविक्रम कहलाये। नागवर्माको उसके द्वेषका उचित दण्ड देनेके कारण वह 'छलदङ्कगङ्ग' विरुदसे विभूषित किये गये थे। गङ्गभट मुड्डु राचय्यको तलवारके घाट उतारनेके उपलक्षमें वह 'समरपरशुराम' और 'प्रतिपक्ष राक्षस' उपाधियोंसे विभूषित हुए थे। भटवीरके किलेका नाश करके वह 'भट मारि' नामसे प्रसिद्ध हुए थे। और चूँकि वह वीरोचित गुणोंको धारण करनेमें शक्य थे एवं सुभटोंमें महान् वीर थे, इसलिए वह क्रमशः 'गुणवम् काव' और 'सुभटचूड़ामणि' कहलाते थे। चामुण्डरायकी यह विरुदावली उनके विक्रम और शौर्यको प्रकट करती है। सच-मुच वह 'वीर-शिरोमणि' थे।

चामुण्डराय महान योद्धा और सेनापति ही नहीं बल्कि राजमंत्री और उत्कृष्ट राजनीतिज्ञ भी थे। राजमंत्रीके पदसे उन्होंने किस ढङ्गसे गङ्ग राज्यकी शासन व्यवस्था की थी, उसको बताने-वाले यद्यपि पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं हैं; किंतु यह प्रगट है कि उनके मंत्रित्व कालमें देशमें विद्या, कला, शिल्प और व्यापारकी अच्छी उन्नति हुई थी। गङ्ग-राष्ट्रके लोगोंकी अभिवृद्धि विशेष होना

चामुण्डरायके शासनकी सफलता और सुचारुताका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस कालके बने हुए सुंदर मंदिर, भव्य मूर्तियां, विशाल सरोवर और उन्नत राजाप्रसाद आज भी दर्शकोंके मन-मोह लेते हैं।

गङ्ग-राष्ट्रकी उस समय अपने पड़ोसी राजाओंके प्रति जो नीति थी, उससे चामुण्डरायजीकी गहन राजनीतिका पता चलता है। उससमय राष्ट्रकूट राजाओंकी चलती थी। चामुंडरायने गङ्ग राजाओंसे उनकी मैत्री करा दी; बल्कि उनके लिये कई लड़ाइयां लड़कर उन्हें गङ्गवंशका चिर ऋणी बना दिया। इस प्रकार युगप्रधान राठौर राजाओंसे निश्चिन्त होकर उन्होंने गङ्ग राज्यकी भी वृद्धि की थी।

मंत्री प्रवर चामुण्डरायके शासनकालमें जिस प्रकार गंगवाड़ि देशकी अभिवृद्धि धन संपदा और कला कौशलके द्वारा हुई थी, वैसे ही साहित्यकी उन्नति भी खूब हुई थी। सच पूछिये तो साहित्योन्नतिके विना देशोन्नति हो ही नहीं सक्ती। चामुण्डराय इस सत्यको अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने स्वयं साहित्य रचनाका महत्तर कार्य अपने सुयोग्य हाथोंसे सम्पन्न किया था। और तो और, युद्धक्षेत्रकी किन्हीं शांत घड़ियोंमें भी वह साहित्यको नहीं भूले थे। कनड़ी चामुण्डरायपुराण युद्ध क्षेत्रमें ही उन्होंने रचा था। गंगवाड़ियोंमें कनड़ी भाषाकी ही प्रधानता थी और तब उसकी उन्नति भी खूब हुई। गंगराजाओं और चामुण्डरायने श्रेष्ठ कवियोंको अपनाकर उन्हें खासा प्रोत्साहन दिया। इनमें आदिपम्प, पोन्न, रण्ण और नागवर्म्म उल्लेखनीय हैं। कनड़ी साहित्यके साथ ही उस समय संस्कृत और प्राकृत साहित्यकी भी उन्नति यहां हुई थी।

आचार्य प्रवर अजितसेन, श्री नेमिचंद्रजी सिद्धांतचक्रवर्ती, माधवचंद्र त्रैवेद्य प्रभृति उद्भट विद्वानोंने अपनी अमूल्य रचनाओंसे इन भाषाओंके साहित्यको उन्नत बनाया था। इस साहित्योन्नतिसे भी चामुण्डरायके सर्वांग पूर्ण राजतंत्र व्यवस्थाका समर्थन होता है।

श्री नेमिचन्द्राचार्यसे उनका घनिष्ट सम्बंध था, यह पहले ही बताया जाचुका है। सचमुच जिस प्रकार राजप्रबंध और देशरक्षाके कार्यमें चामुंडराय प्रसिद्ध थे, उसी प्रकार श्री नेमिचंद्राचार्य धर्मोन्नति और शासक रक्षाके कार्यमें अद्वितीय थे। उस समय वह जैन धर्मके स्तंभ थे!। जैनदर्शनका मर्मज्ञ उनसा और कोई नहीं था। विद्वानोंने उन्हें 'सिद्धांतचक्रवर्ती' स्वीकार किया था। उनकी कीर्तिगरिमाके संबंधमें कविका निम्न पद्य दृष्टव्य है—

"सिद्धांताम्भोधिचन्द्रः प्रणुतपरमदेशीगणाम्भोधिचन्द्रः।
स्याद्वादाम्भोधिचन्द्रः प्रकटितनयनिक्षेपवाराशिचन्द्रः॥
एनश्चक्रौघचन्द्रः पदनुतकमलव्रातचन्द्रः प्रशस्तो।
जीयाज्ज्ञानाब्धिचन्द्रो मुनिपकुलवियच्चन्द्रमा नेमिचन्द्रः॥"

सच पूछिये तो भारतीय इतिहास इन दोनों नर-रत्नोंके प्रकाशसे प्रदीप्त होरहा है। भारतीय साधु सम्प्रदायमें श्री नेमिचन्द्रजीका नाम प्रमुख पंक्तिमें स्थान पानेके योग्य है और चामुण्डराय? वह तो भारतीय वीरोंमें अग्रणी और श्रावक संघके मुकुट हैं। उनके जनहितके कार्य और सम्यक्दर्शनकी निर्मलता उन्हें ठीक ही 'सम्यक्त रत्नाकर' प्रगट करती है। वह एक ऊंचे दर्जेके धर्मात्मा, महान् योद्धा, प्रतिभाशाली कवि, परमोदार दातार और सत्य-युधिष्ठिर थे।

(१६)

श्रीमद्भट्टाकलङ्क देव।

'श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती।
अनेकांतमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया॥-ज्ञानार्णव।

'दिगम्बर जैन सम्प्रदायमें समन्तभद्रस्वामीके बाद जितने नैयायिक और दार्शनिक विद्वान हुए हैं, उनमें अकलङ्कदेवका नाम सबसे पहले लिया जाता है। उनका महत्व केवल उनकी ग्रंथ रचनाओंके कारण ही नहीं है, उनके अवतारने जैनधर्मकी तात्कालिक दशापर भी बहुत बड़ा प्रभाव डाला था। वे अपने समयके दिग्विजयी विद्वान् थे। जैनधर्मके अनुयायियोंमें उन्होंने एक नया जीवन डाल दिया था। यह उन्हींके जीवनका प्रभाव था जो उनके बाद ही कर्नाटक प्रांतमें विद्यानंदि, प्रभाचन्द्र, माणिक्यनंदि, वादिसिंह, कुमारसेन जैसे बीसों तार्किक विद्वानोंने जैनधर्मको बौद्धादि प्रबल प्रतिवादियोंके लिए अजेय बना दिया था। उनकी ग्रन्थ-रचयिताके रूपमें जितनी प्रसिद्धि है, उससे कहीं अधिक प्रसिद्धि वाग्मी (वक्ता) या वादीके रूपमें थी। उनको वक्तृत्व शक्ति या सभामोहिनी शक्तिकी उपमा दी जाती है। महाकवि वादिराजकी प्रशंसामें कहा गया है कि वे सभामोहन करनेमें अकलङ्क देवके समान थे।'

प्रसिद्ध विद्वान् होनेके कारण अकलङ्कदेव 'भट्टाकलङ्क' के नामसे प्रसिद्ध थे। 'भट्ट' उनकी एक तरहकी पदवी थी। 'कवि'की पदवीसे भी वे विभूषित थे। यह एक आदरणीय पदवी थी जो उस

समय प्रसिद्ध और उत्तम लेखकोंको दी जाती थी। लघु समन्तभद्र और विद्यानंदने उनको 'सकलतार्किकचक्रचूडामणि' विशेषण देकर स्मरण किया है। अकलङ्कचंद्रके नामसे भी उनकी प्रसिद्धि है।

अकलङ्कदेवको कोई जिनदास नामक जैन ब्राह्मण और कोई जिनमती ब्राह्मणिकाका पुत्र और कोई पुरुषोत्तम मंत्री तथा पद्मावती मंत्रिणीका पुत्र बतलाते हैं; परन्तु ये दोनों ही नाम यथार्थ नहीं हैं। वे वास्तवमें राजपुत्र थे। उनके 'राजवार्तिकालङ्कार' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थके प्रथम अध्यायके अंतमें लिखा है कि वे 'लघुहव्व' नामक राजाके पुत्र थेः—

जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मालघुहव्वनृपतिवरतनयः ।
अनवरतनिखिलविद्वज्जननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः ॥

अकलङ्कदेवका जन्म स्थान क्या है, इसका पता नहीं चलता। तौ भी मान्यखेटके आसपास उसका होना संभव है। क्योंकि मान्यखेटके राजाओंकी जो शृंखलाबद्ध नामावली मिलती है उसमें लघुहव्व नामक राजाका नाम नहीं है, इसलिये वह उसके आस-पासके मांडलिक राजा होंगे। एक वार वे राजा साहसतुंग या शुभतुंगकी राजधानी मान्यखेटमें आये थे। इससे मालूम होता है कि मान्यखेटसे उनका संपर्क विशेष था। कनड़ी 'राजावलीकथे'में अकलङ्कदेवका जन्म स्थान कांची (कांजीवरम्) बतलाया गया है। सँभव है कि यह सही हो।

राजपुत्र अकलङ्कदेव जन्मसे ही ब्रह्मचारी थे। उन्होंने विवाह नहीं किया था। कथाग्रंथोंमें उनके एक भाई निष्कलङ्क और बताये

गये हैं। यद्यपि कोई२ विद्वान् उनके होनेमें शंका करते हैं। सो जो हो, कथाग्रन्थमें कहा है कि वे भी उनकी तरह ब्रह्मचारी थे। अकलङ्कदेवके समयमें बौद्धधर्म जैन धर्मके साथ२ चल रहा था और जैनियोंसे उनकी स्पर्द्धा अधिक थी। जगह जगहपर जैनियोंको उनसे मुकाबिला लेना पड़ता था। जैनधर्मका सिक्का जमानेके लिये तब एक बड़े तार्किक विद्वान्की आवश्यक्ता थी। अकलङ्कदेवने इस बातका अनुभव कर लिया और उन्होंने अपनेको इस पुनीत कार्यके लिए उत्सर्ग कर दिया।

तब पोनतग* नामक स्थानमें बौद्धोंका एक विशाल महाविद्यालय था। दूर दूरसे बौद्ध विद्यार्थी उसमें पढ़ने आते थे। अकलङ्कदेव भी उसी विद्यालयमें प्रविष्ट होगये! कथाग्रंथ कहते हैं कि बौद्ध विद्यालयमें प्रविष्ट होनेके लिये उन्हें और उनके भाई निकलङ्कको बौद्ध भेष धारण करना पड़ा था। यह दोनों ही भाई तीक्ष्ण बुद्धि थे। इन्होंने शीघ्र ही न्याय और बौद्ध सिद्धांतका खासा ज्ञान प्राप्त कर लिया। एक बार बौद्धगुरुको इनके बौद्ध होनेमें संदेह हो गया और उसने पता चला लिया कि वास्तवमें यह बौद्ध नहीं जैन हैं। जैन होनेके कारण बौद्धगुरुने उन्हें निर्वासित कर दिया; किन्तु अकलङ्क निकलङ्क वहांसे निकल भागे। निकलङ्कने अपने भाई अकलङ्कको जैनधर्म प्रभावनाके लिए सुरक्षित स्थानको भेज दिया और वह स्वयं बौद्धोंके कोपभाजन बन गये। धर्मके लिये वह अमर शहीद होगये।

अकलङ्कदेव संसारके वैचित्र्यको देखकर विरक्तमन होगये। वह

---

* पोनतग वर्तमान 'ट्रिवट्टर' स्थानके निकट बताया जाता है।

सुधापुर (उत्तर कनाराका सोड ग्राम) पहुंचे और वहां जैन संघमें सम्मिलित होगये। उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण करली। विद्या और बुद्धि दोनोंमें वह अद्वितीय थे। यम-नियमके पालनमें भी उन्होंने विशेष संयम और धैर्यका परिचय दिया था और वह शीघ्र ही इस संघके आचार्य होगये थे। यह संघ "देवसंघ देशीयगण" के नामसे प्रसिद्ध था और अकलङ्कदेव तब इसके प्रमुख हुये थे।

अकलङ्कदेव तब एक बड़े भारी नैयायिक और दार्शनिक विद्वान होगये। उनके व्यक्तित्वसे उस समयके जैन संघमें नवस्फूर्ति आगई। उनकी सबसे अधिक प्रसिद्धि इस विषयमें है कि उन्होंने अपने पांडित्यसे बौद्ध विद्वानोंको पराजित करके जैन धर्मकी प्रतिष्ठा स्थापित की थी। उनका एक बड़ा भारी शास्त्रार्थ राजा हिमशीतलकी सभामें हुआ था। हिमशीतल पल्लव वंशका राजा था। और उसकी राजधानी कांची (कांजीवरम्) में थी। वह बौद्ध था। किंतु उसकी एक रानी जैनी थी। वह धर्म प्रभावना करना चाहती थी। बौद्ध उनके मार्गमें कण्टक बन जाते थे। इस लिये उन्होंने भट्टाकलङ्कदेवको निमंत्रित करके इस शास्त्रार्थकी योजना करा दी। यह शास्त्रार्थ १७ दिनतक हुआ था और इसमें जैन-धर्मकी बड़ी भारी विजय प्राप्त हुई थी। राजा हिमशीतल स्वयं जैनधर्ममें दीक्षित होगया था और उसकी आज्ञासे बौद्ध लोग सीलोनके "कैंडी" नामक नगरको निर्वासित कर दिए गए थे। बौद्धोंके साथ शास्त्रार्थ होनेकी तथा उनके जीतनेकी घटनाका उल्लेख श्रवणबेलगोलकी मल्लिषेण प्रशस्तिमें इस प्रकार किया है:—

तारा येन विनिर्जिता घटकुटीगूढावतारासमं ।
बौद्धैर्यो धृतपीडपीडितकुदृग्देवार्थसेवाञ्जलिः ॥
प्रायश्चित्तमिवांघ्रिवारिजरजः स्नानं च यस्याचर-
द्दोषाणां सुगतः स कस्य विषयो देवाकलङ्कः कृती ॥

यस्येदमात्मनोऽनन्यसामान्यनिरवद्यविभवोपवर्णनमाकर्ण्यते:—

राजन्साहसतुङ्ग सन्ति बहवः श्वेतातपत्रा नृपाः ।
किं तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः ॥
तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो ।
नानाशास्त्रविचारचातुरधियः काले कलौ मद्विधाः ॥

राजन्सर्वारिदर्पप्रविदलनपटुस्त्वं यथात्र प्रसिद्ध-
स्तद्वत्ख्यातोऽहमस्यां भुवि निखिलमदोत्पाटने पंडितानां ॥
नोचेदेषोऽहमेते तव सदसि सदा संति संतो महांतो ।
वक्तुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदिताशेषशास्त्रो यदि स्यात् ॥

नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं ।
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया ॥
राज्ञः श्री हिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो ।
बौद्धौघान्सकलान्विजित्य सुगतः पादेन विस्फोटितः ॥

भावार्थ—"जिसने घड़ेमें बैठकर गुप्तरूपसे शास्त्रार्थ करनेवाली तारादेवीको बौद्ध विद्वानोंके सहित परास्त किया। और जिसके चरणकमलोंकी रजमें स्नान करके बौद्धोंने अपने दोषोंका प्रायश्चित्त किया, उस महात्मा अकलङ्कदेवकी प्रशंसा कौन कर सक्ता है ?"

" सुनते हैं उन्होंने एकवार अपने अनन्य साधारण गुणोंका इस तरह वर्णन किया था—"

"साहसतुंग (शुभतुंग) नरेश, यद्यपि सफेद छत्रके धारण करनेवाले राजा बहुत हैं, परन्तु तेरे समान रणविजयी और दानी राजा और नहीं। इसी तरह पण्डित तो और भी बहुतसे हैं, परन्तु मेरे समान नाना शास्त्रोंका जाननेवाला पण्डित, कवि, वादीश्वर और वाग्मी इस कलिकालमें और कोई नहीं !"

"राजन् ! जिस तरह तू अपने शत्रुओंका अभिमान नष्ट करनेमें चतुर है उसी तरह मैं भी पृथ्वीके सारे पण्डितोंका मद उतार देनेमें प्रसिद्ध हूं। यदि ऐसा नहीं है तो तेरी सभामें जो अनेक बड़ेर विद्वान मौजूद हैं उनमेंसे किसीकी शक्ति हो तो मुझसे वाद करे।"

" मैंने राजा हिमशीतलकी सभामें जो सारे बौद्धोंको हराकर तारादेवीके घड़ेको फोड़ डाला, सो यह काम मैंने कुछ अहंकारके वशवर्ती होकर नहीं किया, मेरा उनसे द्वेष नहीं है; किन्तु नैरात्म्य (आत्मा कोई चीज नहीं है) मतके प्रचारसे लोग नष्ट हो रहे थे, उनपर मुझे दया आई और इसके कारण मैंने बौद्धोंको पराजित किया।"

अकलङ्कदेवके इस वक्तव्यसे उनके हृदयकी विशालता, निर्भीकता और धर्म तथा परोपकारवृत्तिका खासा परिचय मिलता है। वह कितने सरल हैं, जो कहते हैं कि मुझे अभिमान और द्वेष छू नहीं गया है—मैंने जीवोंके कल्याणके लिए ही वादभेरी बजायी है। और उनकी निर्भीकता तो देखिये। निशङ्क और अकेले राजाओंके

दरबारमें वह पहुंचते हैं और विद्वानोंको शास्त्रार्थके लिए चुनौती देते हैं। सचमुच वह नर-शार्दूल थे। जैनधर्मका सिक्का उन्होंने एक बार फिर भारतमें जमा दिया था। वैसे उनके पहलेसे ही वह दक्षिण भारतमें मुख्य स्थान पाये हुये था।

किंतु अकलङ्कदेवने अपने वचन और बुद्धिसे ही धर्मोत्कर्ष नहीं किया था, बल्कि ग्रन्थ रचना करके उन्होंने स्थायी रूपसें प्रभावनाको मूर्तिमान बना दिया है। एक समयके नहीं अनेक समयोंके लोग उनकी मूल्यमयी रचनाओंसे लाभ उठाकर आत्म-कल्याण कर सकेंगे। यह उनका कितना महान् उपकार है! उनकी ग्रन्थ रचनायें निम्नप्रकार हैं:—

१. अष्टशती—अकलङ्कदेवका यह सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है। समन्तभद्रस्वामीके देवागमका यह भाष्य है।

२. राजवार्तिक—यह उमास्वातिके 'तत्वार्थसूत्र' का भाष्य है। इसकी श्लोकसंख्या १६००० है।

३. न्यायविनिश्चय—न्यायका प्रामाणिक ग्रंथ समझा जाता है।

४. लघीयस्त्रयी प्रभाचंद्रका 'न्यायकुमुदचंद्रोदय' इसी ग्रंथका भाष्य है।

५. बृहत्त्रयी—वृद्धत्रयी भी शायद इसीका नाम है।

६. न्यायचूलिका—ग्रंथ भी अकलङ्कदेवका रचा हुआ है।

७. अकलङ्कस्तोत्र—या अकलंकाष्टक एक श्रेष्ठ स्तुतिग्रंथ है।

अकलङ्कदेवके महान् अध्यवसायसे उस समय दक्षिणभारत जैन विद्वानोंकी विद्वत् प्रभासे चमत्कृत होरहा था। स्वयं अकलङ्क-

देवके ही कितने ही सप्रतिभ शिष्य थे। श्री माणिक्यनन्दि, विद्यानंद, पुष्पषेण, वीरसेन, प्रभाचंद्र, कुमारसेन और वादीभसिंह आचार्य उनमें उल्लेखनीय हैं। किन्तु इन सबमें वृद्धत्वका मान अकलङ्कदेवको ही प्राप्त है !

अकलङ्कदेवने साहसतुङ्ग राजाकी राजसभाको सुशोभित किया था, जिसका संवत् ८१० से ८३२ तक राज्य करनेका उल्लेख मिलता है। अतः यह कहा जासक्ता है कि अकलङ्कदेव ८१० से ८३२ तक किसी समयमें जीवित थे और उनका अस्तित्वकाल विक्रमकी नवीं शताब्दिका प्रारम्भिक समय है।

(१७)

धैर्य्य ।

धैर्य्य हमारा आत्मबल है। विना धैर्यके हम अपनी संगठित कार्यप्रणालीका रहस्य नहीं समझ सक्ते और न उसमें सफलीभूत ही होसक्ते हैं। वह हमारे अनुभवकी कसौटी है। अनुभवी पुरुषकी जांच, आड़े समयपर उसके धैर्यकी परख कर लेनेसे होजाती है। संसारमें अपार गुणगण भरे हैं। जिसकी प्रतिभा जितनी विशाल होती है, उसके हृदयकी मुट्ठी भी उतनी ही अधिक अनुभव और ज्ञानपूर्ण होती है। जन्म लेते ही शिशुको रोना आता है। दरिद्र मजूरोंके बालक घंटों बिलखते रहते हैं। क्रमशः भूख-प्यासकी सहनशक्ति प्रादुर्भूत होनेपर, कभीर विशेष संकट पड़नेपर ही 'ऐं-ऐं' कर लेते हैं। इसका कारण दुःखपूर्ण घटनाका अनुभव तथा सहन-शक्ति है।

धैर्यका उद्गमस्थान यही अनुभव और सहनशीलता है। धैर्य दुःख और विपत्तिको सोखनेवाला वह अंगारा है जो शारीरिक या मानसिक उत्पातों द्वारा उत्पीड़ित किये जानेपर मन ही मन संगठित होता रहता है। धैर्य वह अजेय शक्ति है जो विना किसीके सहारे निर्भयता-पूर्वक विजय वैजयन्ती लिए स्वच्छन्द विचरण करती रहती है। धैर्य वह सुरतरु है, जिससे आपत्तिके समय सहज ही अभीष्ट फल प्राप्त होजाते हैं। धैर्यकी परीक्षा आपत्तिकालमें होती है। जो धीर-वीर ऐसे विकट समयमें धैर्यको हाथसे नहीं जाने देते उन्हें सुख-भोग अवश्य प्राप्त होजाते हैं, और उसके विना सुखी मनुष्य भी

दुःखके गंभीर गर्तमें गिर पड़ते हैं। धैर्य ही हमारा सच्चा मित्र है क्योंकि विपत्तिका वही उद्धारक है। जिसका साथी धैर्य है, उसे किसी दूसरेको साथी बनानेके लिए नहीं भटकना पड़ता।

विपत्तियोंके क्रूर प्रहार धैर्यको उत्पन्न करते हैं परन्तु सत्यता, कर्मशीलता, आज्ञापालन, प्रणपरायणता और ईश्वरनिष्ठा ऐसे सात्विक गुणोंसे उसमें पूर्णता आती है। जिसमें स्वभावतः इन गुणोंका वास होता है, वह बड़े बड़े दैवीप्रकोप भी हंसते-हंसते सहन करलेता है। जो व्यक्ति विपत्तिके एक ही थपेड़ेसे तिलमिलाकर कातर होजाता है, उसे जीवन संग्राममें कदापि विजयलाभ नहीं होसक्ता। जो विजिगीषु धीरताका विजयास्त्र लेकर निर्भयता, साहस एवं सदाचाररूपी सामंतोंके साथ बराबर आगे बढ़ता चला जाता है, विपत्तियाँ उसका बाल बांका नहीं कर सक्तीं। उसके लिए भीषण रणभूमि भी रंगभूमि बन जाती है।

धैर्यका अनुग्रहभाजन वही हृदय होसक्ता है जिसे सच्चारित्रताने पवित्र कर दिया है। संसारकी सुखसामग्री वास्तवमें सदाचारीके लिए है। वही उसका उपार्जन, संरक्षण और सदुपयोग कर सक्ता है। धैर्यको धारण करनेके लिए एक प्रकारके आत्मबलकी आवश्यक्ता होती है और वह आत्मबल सदाचारीको ही प्राप्त होता है।

धैर्यको उचित मात्रामें प्राप्त करने और योग्य अवसर पर इसका उपयोग करनेके लिए प्रतिभा शक्तिकी आवश्यक्ता है। मनबोध और मियांमिट्ठूमें बड़ी घनिष्टता थी। दोनोंकी गाढ़ मैत्री थी। एक दिन दोनों मित्र वन्य मार्गसे दूसरे गांवमें जारहे थे कि

रीछकी गुर्राहट सुनाई दी। मियांमिट्ठू अपने मित्रको छोड़ पेड़पर चढ़ गया। मनबोध पेड़पर चढ़ना न जानता था। वह थोड़ी देरतक मित्रकी ओर ताकता रहा कि वह कुछ सहायता करेगा, परन्तु जब उसने तोतेकी तरह आंखें बदल लीं तो मनबोधने धोखेबाज मित्रसे निराश हो सच्चे मित्र धैर्य और प्रतिभाका आश्रय लिया और श्वास रोककर मुर्देकी नाईं पृथ्वीकी गोदमें लेट रहा। रीछ आया और मनबोधको मुर्दा समझ लौट गया, मनबोध मरते-मरते बच गया।

भले ही यह कहानी कल्पना प्रसूत हो किन्तु-इससे मिलनेवाली शिक्षा वास्तविक और अमूल्य है। यदि मनबोधके पास उस समय धैर्य नामक अस्त्र न होता तो निस्संदेह वह उस घातक पशुका शिकार होगया होता। साथ ही सांस रोककर मुर्दाकी तरह पड़ रहनेकी अनोखी सूझ या कल्पना शक्ति न होती तो भी उसकी प्राणरक्षा संभव न थी। यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि धैर्य विद्यमान हो तो प्रतिभा स्वयं प्रस्फुटित होजाती है; घबराहटके समय प्रतिभाका प्रस्फोट नहीं होता।

बिना आत्मविश्वासकी दृढ़ताके हमारी उन्नतिकी आशा नहीं की जासक्ती। दृढ़प्रतिज्ञ और कर्मवीर पुरुष भी आत्म विश्वासके बिना अपने साध्यपथको सुगम नहीं बना सक्ते। अद्भुत गंभीरता तथा उच्चतम धैर्यके सहयोगसे ही हम साध्यशिखरको सकुशल और शीघ्र प्राप्त कर सक्ते हैं। दुर्वासनाओंके पीछे पड़ना आत्मविश्वास नहीं कहलाता, वरन् दृढ़ताविशिष्ट अंतःकरणमें व्याप्त एक अलौकिक शक्तिको आत्मविश्वास कहते हैं। सत्कार्य करनेमें दृढ़तर मानसिक

अनुराग रूप आत्मविश्वास धैर्यकी भित्ति है। निरंतर कर्मशीलोंको दुर्वासनाएं नहीं सता सकीं। उनका अड्डा निठला जीवन है। अतएव यदि आपको वासना विहीन और सफल जीवन विताना है तो निरन्तर कार्य-रत रहिए, धैर्य रखिये, आपका अभीष्ट आप ही सिद्ध हो जायगा। आपकी महत्वाकांक्षा भी समय पाकर अपने उद्दिष्ट स्थानपर पहुंच जायगी।

ज्योंही आपको दुर्वासनायें सतायें त्योंही सत्कार्यमें लग जाइए। ऐसा न करेंगे तो दुर्वासनायें आपके जीवनको निकम्मा करके अंतमें नष्ट कर डालेंगी। अनादिकालसे संसार-वारिधिके विविध विकराल-विपत्तिआवर्तोंमें चक्कर खाते-खाते बड़ी कठिनाईसे प्राप्त मनुष्यजीवन-रूपी चिन्तामणिको फिर दुर्वासना-सागरमें फेंक देना क्या बुद्धिमत्ता है? यही वज्र मूर्खता है—और सचमुच ऐसा ही है तो आप मूर्खताके मार्गमें गमन न कीजिए। धैर्यके साथ जीवनके साध्यकी ओर बढ़ते जाइए, निश्चय आपकी विजय होगी!

शुद्धयाशुद्धि पत्रिका ।

पृष्ट	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	१४	उदाहरण ही	उदाहरण
४२	६	तब सब	तब
,,	१३	लोगके	लोकके
४९	१	देव	चले; देव
५४	९	नाहकेटर	नाइकेटर
,,	१ फुट नोट	होते	कहते
५७	२	उसके	उनके
६२	१२	वाद	बल
६३	१२	लगा	जमा
६१	२१	पढ़ने	पटने
६४	४	६२	२२
७९	१३	नटखट	नटखटी

श्री० बाबू कामताप्रसादजीकी रचनाओंपर लोकमत।

APPRECIATIONS.

१. ऑनरेबिल प्रॉ० जी. टुस्सी, पी. एच. डी. रोम:—

1. Hon'ble Prof. Guissepe Tucci, Ph.D., The Royal Academy, Rome, (Italy) writes:—

"I admire your activity, which I cannot imitate.

"मैं आपके कार्यकी प्रशंसा करता हूं।"

2. Srimati Subhdraben (Prof. Miss Charlotte Crause Ph. D. Leipzig (Germany) writes:—

२. श्रीमती सुभद्राबहन (प्रो० मिस चारलोटी, क्रौज पी.एच.डी)–

"I appreciate the noble task ever so much to which you are dedicating your time and strength."

"मैं आपके उत्तम कार्यके प्रति सहानुभूति प्रगट करती हूं।"

3. Jain-Darsan-Divakar Mr. Champt Rai, Vidya-Varidhi Barister-at-Law, London (Life-President of the All India Dig. Jain Parishad) writes:—

३. जैन दर्शनदिवाकर श्री० चम्पतरायजी विद्यावारिधि:–

"आपकी पुस्तकोंके विषयमें मैं मात्र यही कह सकता हूं कि भय:

है कि कहीं मुझे आपकी बुद्धि और लेखनीसे अतिशय प्रेम न होजावे। आपका कार्य प्रशंसनीय है।"

"The only comment that I need make on your books is that I am in grave danger of falling in love with your head and pen both!....................your work is praiseworthy"

4. Prof. Dr. Lakshmichandji Jain, M. A., Ph. D., Head of the Economics Dept., The University, Lahore remarks:—

४. प्रो० डॉ० लक्ष्मीचंदजी जैन, एम. ए., पी. एच. डॉ. आदि।

"आपकी भेजी पुस्तकें मिलीं।....सचमुच आप ठोस काम कर रहे हैं और आपके महत्वपूर्ण कार्यपर हम सबको गर्व है।"

५. हिन्दीके प्रसिद्ध लेखक श्री जैनेन्द्रकुमार लिखते हैं:-

"आप जो कर रहे हैं, सचाईसे कर रहे हैं और जैनियोंके हितमें कीमती काम कर रहे हैं।"

× × × ×

SAMKSIPTA JAIN ITIHAS.

"A SHORT JAINA HISTORY."

Vols. i & ii. Surat, The J. Vijaya Press.

1. Prof. Helmuth von Glassenapp Ph. D. Berlin:-

"......Your valuable work 'samksipta Jain Itihas'...I read it with great interest and shall make use of it when I prepare a new edition of my work Jaini.

2. Mr. Champat Rai Jain, Bar-At-Law, London:—

"It is a very lovely compilation and study. I think your arguments are irresistible. This is surely the first book of its kind in history of Jaina secular literature. I congratulate you on its production."

3. Prof. A. N. Upadhye. M. A. Kolhapur:—

"I heartily admire what an extensive labour you have put in it. Please accept my thanks."

बाबू कामताप्रसादजी कृत—

ग्रन्थरत्न—

भगवान् महावीर	२)
भगवान् पार्श्वनाथ	२॥)
भ० महावीर व महात्मा बुद्ध	१॥)
संक्षिप्त जैन इतिहास प्र० भाग	॥≡)
,, ,, दू० भाग प्र० खंड	१।।।)
,, ,, ,, दू० खंड	१=)
सत्य मार्ग	।।।)
नव-रत्न	।=)
पंच-रत्न	।=)
विशाल जैन संघ	।-)
दिगम्बरत्व व दि० मुनि	१)
जैन धर्म सिद्धान्त	।)
जैन जातिका ह्रास	।)
दिगम्बर मुनि	)-॥
महारानी चेलना	।।।=)

पता:—दिगम्बर जैन पुस्तकालय, कापड़िया भवन—सूरत।